उर्वशी का सामाजिक संदर्भ

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद की एम० फिल० (हिंदी) उपाधि
के लिए स्वीकृत लघु शोध प्रबन्ध

उर्वशी का सामाजिक संदर्भ

मीना आहूजा

शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली-११०००२

संस्करण
1989

ISBN—81-85023-50 6

मूल्य
45 00

प्रकाशक
शारदा प्रकाशन
16/एफ 3 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002

विजयदत्त भारी द्वारा शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली के लिए
प्रकाशित एवं हरिकृष्ण प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली 32 में मुद्रित।
आवरण मुद्रण गणेश प्रेस, गांधी नगर दिल्ली 110031 तथा
आवरण सज्जा श्री चेतनदास द्वारा।

Urvashi Ka Samajik Sandarbh (Dissertation)
[A critical study of the most famous & awarded Hindi Epic-poetry written by Ramdhari Singh Dinkar with special reference to social context] by Meena Ahuja

भूमिका

'उवशी' दिनकर का प्रेम-काव्य है और इसका सामाजिक सन्दभ थोडा अटपटा सा विषय लगता है। दिनकर प्रखर राष्ट्रीय चेतना के कवि रहे हैं, उन्होने भारतीय निधनता की समस्या पर उदग्रतापूवक विचार किया है। उनकी कविताओ से सामाजिक शक्तियो को वाणी मिली है और आधुनिक कविता मे वे प्रखर सामाजिक चेतना के कवि माने जाते हैं। यदि उनके काव्य के इस व्यापक सन्दभ मे सामाजिक सन्दभ पर भी विचार किया जाता तो इसका औचित्य स्वत सिद्ध था। किन्तु सामान्यतया 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' को हिन्दी के आलोचक उनकी मुख्य काव्य-धारा नही मानते रहे हैं और इसलिए ऐकान्तिक प्रेम की इन कविताओ मे सामाजिक सन्दभ का सधान थोडा बेतुका सा लगता है। 'उवशी' जब प्रकाशित हुई तब उस पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा था कि "हुकार', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के कवि ने विषय तो अपने स्वभाव से बहुत भिन्न चुना, किन्तु श्रृगार के बहाने उसने कविता ऐसी रच डाली, जिसकी तुलना किसी और काव्य से नही की जा सकती।" इसी प्रकार 'रसवन्ती' पर एक तल्ख टिप्पणी देते हुए डॉ० कामेश्वर शर्मा ने लिखा था कि 'हुकार के बाद 'रसवन्ती' का प्रकाशन ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार किसी आतकवादी का काले पानी से लौटकर आने के बाद घर बसाना या यो कहिए कि 'हाहाकार' के दिनकर ने 'रसवन्ती' मे आकर अपने कानो मे कस कर उगली ठूस ली है।" हिन्दी के आलोचक इस स्थूल धारणा के भ्रान्त शिकार रहे हैं कि सामाजिक चेतना जब तक अभिधात्मक सपाट बयानी के द्वारा ही व्यक्त न हो तब तक कविता का सामाजिक सन्दभ होता ही नही। कविता का यह स्थूल समाजशास्त्र विकसित आलोचना शास्त्र मे सब जगह तिरस्कृत हो चुका है और हिन्दी की साम्प्रतिक आलोचना इस जुए को उतार फेंकने को कसमसा रही है।

रवीन्द्रनाथ ने एक जगह पर लिखा है कि "साहित्य मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश मे गडी रहती है और उसका शिखर मेघो को भेदकर आकाश म उठता है।' रवीन्द्रनाथ साहित्य का समाजशास्त्र नही लिख रहे थे किन्तु वे परमोच्च, कोटि की प्रतिभा थे, सजनशील कवि थे और वे साहित्य के सामाजिक आधार को जानते थे। इसलिए वे कवि कल्पना के झरोखे और महराब और ठोस

सामाजिक सम्बन्ध के आधारों का विलक्षण सामंजस्य प्रस्तुत कर रहे थे। साहित्य के फूल शून्य आकाश में नहीं खिलते, उनमें यौवन और लाली रहती है, वे मिट्टी से रस ग्रहण करते हैं। प्रेम मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध का सबसे गहन रूप है। आज का आलोचक जिसे नर-नारी सम्बन्ध कहता है वह प्रेम ही है इसलिए प्रेम काव्य गहन सामाजिक सन्दर्भ की अभिव्यक्ति होता है। इसलिए प्रेम कविता चाहे सूरदास की हो या दिनकर की, साहित्य के समाज शास्त्र के लिए श्रेष्ठ उपजीव्य है। समाज के उन प्रतिबिम्बों का सन्धान आलोचक का दायित्व है जिन प्रतिबिम्बों ने कविता को जीवन और रस से भर दिया है।

दिनकर प्रखर राष्ट्रीयता और सामाजिक चेतना के ही कवि नहीं वरन् मार्मिक प्रेमच्छवियों के भी कवि हैं। सौन्दर्य की उन मार्मिक छवियों की रचना में उनका समाज सापेक्ष मन ही ढला है। नर नारी सम्बन्धों के वर्णन के माध्यम से वे अपने युग और समाज की आत्मा का सन्धान करते हैं। 'उर्वशी' उनका एक ऐसा काव्य है जिसमें उनकी जीवन चिन्तन और साहित्य-साधना के उत्तमांश ढले हैं। इसलिए 'उर्वशी' के सामाजिक सन्दर्भ की खोज साहित्य के समाज शास्त्र की रचना में एक फलप्रद दिशा है।

श्रद्धेय गुरुवर डॉ० विजेन्द्रनारायण सिंह के प्रति चिर कृतज्ञ हूँ जिनके मार्गदर्शन से यह कार्य सम्पन्न हो सका। पुस्तक पूरी करने में अनेक मित्रों से सहायता मिली है। मैं उन सबकी आभारी हूँ।

अन्त में अपनी स्वाभाविक त्रुटियों के लिए विनम्रतापूर्वक क्षमा याचना करती हूँ। आशा है कि 'उर्वशी' के सम्बन्ध में होनेवाली भावी विचारधाराओं के आलोक में यह प्रयास भी कहीं जुगनू की भाँति आपका ध्यान आकर्षित करेगा।

मीना आहूजा
हिन्दी प्राध्यापिका,
न्यू गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज
खैरताबाद, हैदराबाद

विषय-अनुक्रम

1

भारतीय नवोत्थान और प्रवृत्ति का जीवन-दर्शन

कोई भी कृति अपने युगबोध से निस्सग नही हुआ करती। कलाकार अपनी तीव्र सवेदनशीलता के कारण युग चेतना से अनन्य रूप से सपृक्त रहता है। समाज की जीवन दृष्टि और दृष्टिकोण मे बदलाव आने से साहित्य मे भी बदलाव उपस्थित होता है। जब कभी युगीन सवेदनशीलता मे परिवतन उपस्थित होता है, नवीनता का आग्रह होता है, उस समय पारम्परिक बोध और नवीन सवेदनाओ मे सघष उत्पन्न होता है। यह सक्रमण की स्थिति समाज की चेतना मे तनाव पैदा करती है, प्राचीन जीवन मूल्य, जो जड हो चुके हैं, जो हमारे समाज के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो रहे हैं, उन्हें नकार कर नवीन मूल्यो को प्रस्थापित करने में सहायक होती है।

पुनर्जागरण काल मे साहित्य व समाज मे जो अर्तावरोध तथा आन्तरिक विसगतिया दृष्टिगोचर होती हैं, उनके केन्द्र मे यही सक्रमण की स्थिति है। पुनर्जागरण से पूव मध्ययुगीन जीवन दृष्टि के परिप्रेक्ष्य मे धम समाज मे केन्द्रीय भूमिका निभा रहा था। समाज के प्रत्येक क्रिया कलाप का नियन्त्रण धम के सशक्त हाथो मे था। इसी कारण समाज की प्रत्येक समस्या का हल धम-मूल्यो म ही खोजा जाता था। धम की दृष्टि मे यह समाज, यह जीवन, इसके प्रत्येक क्रिया कलाप किसी अज्ञात पारलौकिक शक्ति से सचालित स्वप्नवत् माया जगत का क्षणभगुर आविष्कार था। अत मनुष्य और उससे निर्मित मानवीय समाज तथा इहलौकिक एव भौतिक शक्तियो पर किसी की आस्था न थी। 'योगक्षेमम् वहाम्यहम्' कहनेवाले ईश्वर पर ही सबकी अटूट आस्था थी। फलत पुनर्जागरण से पूर्व का समाज स्वय अपने प्रति ही उदासीन, भौतिक आकषणो के प्रति निष्क्रिय, भाग्य और भगवान पर ही अवलबित रहा। विविध धर्मों ने मानव-मुक्ति के भिन्न भिन्न माग तय कर लिये थे। किन्तु ये भिन्न भिन्न मार्ग उसी एक बिन्दु पर आकर एक हो जाते थे, जहा किसी पारलौकिक सत्ता की शक्ति को स्वीकृति प्राप्त होती थी और मनुष्य की समस्त सुप्त अन्तशक्तियो को उस शक्ति के सम्मुख समर्पित कर दिया जाता था। मानव की ऐहिक शक्तियो की भत्सना कर पाप-पुण्य, धम-अधम, सत्य-असत्य की व्याख्याए 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या' की केन्द्रीय

धुरी से चिपक कर रह गई थी।

नवोत्थान की लहर ने इन प्रतिक्रियावादी सड़े-गले रीति रिवाजो और धार्मिक अध विश्वासो के सम्मुख प्रश्न चिह्न लगाये। जीवन को देखने-समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया। वैज्ञानिक दृष्टि के कारण "विश्वास के बजाय परीक्षण, श्रद्धा की जगह तर्क, आस्था की जगह विश्लेषण पर बल दिया जाने लगा, जिसकी निश्चित परिणति यह हुई कि मानव नियति के विषय म हमारी मध्ययुगीन धारणा बिल्कुल बदल गई।"[1] परिणामस्वरूप मानव का मूल्य बढ़ गया और मानवेतर शक्तियो का मूल्य घट गया। 'धर्मे हि तेषाम अधिको विशेषाम' के स्थान पर 'बुद्धि तेषाम् अधिको विशेषाम्' का विधान चरितार्थ होने लगा।

नवोत्थान की लहर म नैतिकता ईश्वर-परक न रहकर मानव सापेक्ष बन गई। बौद्धिकता के प्रकाश ने नतिकता के जीर्ण-शीर्ण मूल्यो को ध्वस्त कर दिया। मध्यकालीन नतिकता मे काम घिनौना और विकृत कृत्य था। काम और नर्क एक दूसरे के पर्याय थे। कबीर का कथन है "जहा काम है, वहा राम नही, जहा राम है, वहा काम नहो।" सेंट पाल का तो यह दावा है, "मैथुन चाहे विवाह के बाद ही हो मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा मे बाधक होता है।" इसी आधार पर वे कहते हैं 'पुरुष के लिए अच्छा तो यही है कि वह स्त्री को छुए भी नही।" स्पष्ट है जहा काम के सम्बन्ध मे ऐसे विचार प्रचलित होंगे वहा गार्हस्थ्य धर्म गौरव का प्रतीक कभी नही हो सकता। सेंट जोसेफ का कथन है, 'विवाह की लकड़ी को ब्रह्मचर्य के कुल्हाडे से काट दो।" इसी कारण विवाह के सम्बन्ध मे स्वस्थ दृष्टिकोण नही अपनाया जाता था। "पति या पत्नी के मन मे धर्म का आवेग आते ही पहला परिणाम यह होता था कि 'सुखी सम्बन्ध' असभव हो जाता था। दोनो में से जिसमे भी धर्म की भावना अधिक उत्कट होती थी, उसकी तत्काल यह इच्छा होती थी कि एकान्तवास मिले और तपस्या करने लगू।"[2] इस भावना के केन्द्र मे यौन सम्बन्ध नैतिक पतन व पाप का सूचक था।

किन्तु इतिहास साक्षी है काम की सहज धारा को जितना ही अवरुद्ध किया गया, वह हमारी चेतना मे और गहराई से प्रविष्ट होती गयी। नीत्से का कथन है, 'धर्म ने जहर खिलाकर सेक्स को मार डालने की कोशिश की। सेक्स मरा तो नही, सिर्फ जहरीला होकर जिन्दा है।" किन्तु नवोत्थान के उपरान्त काम के प्रति इस परम्परागत दृष्टिकोण मे बदलाव आया। मनोवैज्ञानिक आविष्कारो ने सिद्ध कर दिया कि मानव के सतुलित विकास के लिए यह आवश्यक है कि काम से मैत्री स्थापित की जाय। इसी कारण आधुनिक युग मे नतिकता को सेक्स सम्बन्धो से नापने की दकियानूसी परम्परा को प्रश्रय नही दिया जाता। शारीरिक पवित्रता आदि की बातें ढकोसला मात्र हो गई हैं। आज नर-नारी यौन मुक्ति के आग्रही हैं। आज यौन सम्बन्ध व्यक्ति के मन मे पाप-बोध उत्पन्न नही करते।

काम को जीवन मे प्रश्रय प्राप्त होते ही नारी की स्थिति मे भी परिवतन आया। नारी जो शैतान का दरवाजा थी, नक का माग दिखानेवाली मशाल थी, अब वह सगिनी, सहधर्मिणी बन गई। अब वह उपभोग की वस्तु मात्र नही रह गई। शिक्षा एव बौद्धिकता के आलोक मे उसे अपनी अस्मिता का बोध हुआ और इस अस्मिता (Identity) की पुनप्रतिष्ठा मे वह सारी बाधाओ को अतिक्रमित करती गयी। सबसे पहली थी आर्थिक परतन्त्रता—पहले वह आर्थिक दष्टि से पुरुष पर अवलबित थी। अब वह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनी। आज उसने आर्थिक ही नही, राजनैतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रो मे भी अपनी पहचान बनानी आरभ की है। वस्तुत नवोत्थान की धारा मे नारी देश की मुक्ति मे भी कही अपनी ही मुक्ति खोज रही थी और उसका यह मुक्ति प्रसग उत्तरोत्तर प्रशस्त ही होता चला गया।

अत नवोत्थान के प्रकाश मे परम्परागत स्थापित नैतिक बोध का विघटन बडी बुरी तरह से हुआ। वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते ही सवेदनशील मन जीवन की प्रत्येक घटना और परम्परागत मूल्यो को बुद्धि की आख से परखने का आदी हो गया। नवीन सामाजिक सदर्भों मे भारतीय आदर्शों एव मूल्यो की असारता प्रतीत होने लगी। भारत जैसे धम-परायण देश मे धम अब मात्र ऐतिहासिक तथ्य रह गया है। धम ने समाज को जिन चार वर्गों मे बाटा था, बदले हुए सामाजिक सदर्भों मे यह विभाजन असगत, अस्वाभाविक और विशेष वग की चालबाजी लगता है।

नवोत्थान की भावभूमि और दिनकर

किसी कृति के सामाजिक सदभ का अध्ययन करने के लिए आवश्यक है कृतिकार के उस सदर्भ का विश्लेषण करना जिसकी कोख से वह उत्पन्न हुआ है, जिन परिस्थितियो ने उसके निर्माण मे योग दिया है उसकी चेतना को आन्दोलित किया है, उसमे बेचनी उत्पन्न कर अभिव्यक्ति के द्वार तक पहुचाया है। सच्चा कवि जीवन की आत्यन्तिक गहराइयो व अनुभूतियो से उदभूत होता है। जीवन की समस्याओ की गहनतम जडो को स्पश कर, जीवन को उसकी समग्रता मे जानने, जीने और प्रयोग करने का जीवन्त प्रतीक होता है। दिनकर नि सदेह ऐसे ही कवि हैं।

जब कभी युग का बोध बदलता है, तब साहित्य की रचना भी बदले हुए सदभ मे होने लगती है। नवोत्थान की लहर ने भारतीय मनीषा में जो क्रान्तिकारी परिवतन उपस्थित किया, उसका प्रभाव भारतेन्दु से लेकर आज तक प्रत्येक साहित्यकार पर पडा है। इनमे मध्यकालीन बोध की स्वीकृति भी है और अस्वीकृति भी। भारतेन्दु को आधुनिक कवि की सज्ञा उनके व्यक्तित्व से आतकित

होकर ही दी जा सकती है।[3] वस्तुत पुनरुत्थान के साचे मे अपनी संवेदना को ढालने का प्रयास सवप्रथम मैथिलीशरण गुप्त ने ही किया था।[4] दिनकर की काव्य-चेतना भी नवोत्थान की भाव भूमि से स्पदित है।

उन्नीसवी सदी मे प्रारम्भ होनेवाले नवोत्थान की केन्द्रीय प्रवृत्ति राष्ट्रीयता है। वेद, उपनिषद, गीता की नवीन व्याख्या ने भारतीयो मे अपने देश और सस्कृति के प्रति रागात्मक वृत्ति को जन्म दिया। यद्यपि राष्ट्रीयता की भावना ने दिनकर की चेतना को भीतर से नही, अपितु बाहर से आक्रात किया था।[5] तथापि उनके काव्य मे राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त ही उदात्त रूप मे प्रतिफलित हुई है। उनका मुख्य स्वर विद्रोह और आक्रोश का रहा है। उनकी प्रारभिक रचना 'ताडव' का हाहाकार सुनिए —

"लहरें प्रलय प्रमोद गगन मे
अघ धूम हो व्याप्त भुवन मे,
बरसे आग, बहे झझानिल,
मचे त्राहि जग के आगन मे,
फटे अतल पाताल, धसे जग,
उछल-उछल कूदे भूधर।
नाचो, हे नाचो नटवर।"[6]

दिनकर मे भारतीय सास्कृतिक चेतना का अत्यन्त उदात्त बोध था। अपनी सस्कृति के प्रति अनुराग होने से ही उनकी राष्ट्रीय भावना से उदभूत कविताए इतनी मार्मिक बन पडी हैं। दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का धरातल अत्यन्त ही विस्तत और गहरा है और इसी गहराई मे जाकर वह समस्त मानवता को अपने भीतर समेट लेता है। दिनकर मे आर्थिक विषमता धार्मिक अधविश्वास और सामाजिक कुरीतियो के प्रति तीव्र आक्रोश था। 'दिगम्बरी', 'हाहाकार', 'असमय' 'आह्वान', 'भीख', 'बिल्नी', 'विपथगा' आदि रचनाओ मे सामाजिक और साम्राज्यवादी शासन के व्यापक शोषण को कवि ने अनावत किया है।

"वे भी यही दूध से जो अपने श्वानो को नहलाते हैं
ये भी बच्चे यही, कब्र मे दूध-दूध जो चिल्लाते हैं।"

अत मे कवि बच्चो के दूध के लिए स्वर्ग मे धावा बोल देता है।

"हटो व्योम के मेघ, पथ से, स्वग लूटने हम आते हैं,
'दूध-दूध' ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।"[7]

उपयुक्त मानवतावादी स्वर के परिप्रेक्ष्य मे नवोत्थान के बाद का बदला हुआ दृष्टिकोण है। नवोत्थान के बाद साहित्य मे शोषित वर्ग के प्रति साहित्यकार की सवेदना प्रमुख रूप से प्रभावित हुई है। इसी सदभ मे समाज मे नारी व्यक्तित्व की भी नई पहचान बनी है। मध्य-युग तक नर-नारी के लिए नैतिकता के भिन्न भिन्न

मानदण्ड थे। पुरुष वेदो का अध्ययन कर सकता था, किन्तु नारी नही। बुद्ध देव ने भी अपने प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह पर सघ मे स्त्रियो के प्रवेश की स्वीकृति दे तो दी, किन्तु बाद मे इसका उन्हें घोर पश्चात्ताप हुआ। दिनकर का कथन है, "जब जीवन का सर्वोच्च ध्येय मोक्ष और मोक्ष का उपाय सन्यास हो गया, तब समाज म हट्टे-कट्टे नवयुवक भी पत्नियो को छोडकर सन्यास लेने लगे। उस विवशता-भरी वेदना की तनिक कल्पना कीजिए, जो उन पत्नियो के हृदय को दग्ध करती होगी, जिनके पति जीवन के सर्वोच्च ध्येय की खोज मे उनका त्याग कर रहे थे नारियो पर अत्याचार सभी देशों के पुरुषो ने किया था, किन्तु उन पर जैसा अत्याचार भारतवष मे हुआ, वैसा कदाचित् और कही नही हुआ होगा।"[8] किन्तु पुनरुत्थान की धारा ने नारी के व्यक्तित्व को नई गरिमा दी। अब नारी निन्दा की पात्री या पाप की खान न होकर मानवी के रूप मे प्रतिष्ठित हुई। उसे अपनी अस्मिता का बोध हुआ। आर्थिक स्वातन्त्र्य और शिक्षा के आलोक ने नारी मे अपने व्यक्तित्व के प्रति सचेतनता उत्पन्न कर दी। दिनकर के काव्य मे नारी के तीन रूप दष्टिगोचर होते हैं—1 रक्षणीया, 2 आधुनिका, 3 गहिणी। इन तीनो रूपो मे उन्हें नारी का रक्षणीया और गृहिणी रूप ही प्रिय है। आधुनिका के लिए उनके पास केवल भत्सना है।

वस्तुत दिनकर को नारी का 'आचल मे है दूध और आखो मे पानी' रूप ही प्रिय है।

"राजा हसते हैं, हसे, तुम्हे रोना है,
मालिन्य मुकुट का भी तुमको धोना है,
रानी! विधि का अभिशाप, यहा ऊसर मे
आसू से मोती बीज तुम्हे बोना है।"[9]

'रसवती' मे नारी की वदना करते हुए वे कहते हैं—

"न छू सकते जिसको हम देवि!
कल्पना वह तुम अगुण, अमेय,
भावना अन्तर की वह गूढ,
रही जो युग-युग अकथ, अगेय।
तैरती स्वप्नो मे दिन रात
मोहिनी छवि-सी तुम अम्लान,
कि जिसके पीछे-पीछे नारि!
रहे फिर मेरे भिक्षुक गान।'[10]

दूसरी ओर आधुनिका की वे सदैव भत्सना करते हैं। 'रसवती' मे वे आधुनिक नारी की भर्त्सना करते हुए कहते हैं—

"जनाकीण ससार के बीच कितनो का मन बाँधोगी ?
निरुद्देश्य वेघोगी चलते राह हृदय किस किस का।"[11]

मध्ययुगीन जीवन दशन 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या' की धुरी पर टिका हुआ था। समाज के प्रति उदासीन भौतिक आकपणो के प्रति निष्क्रिय, भाग्य और भगवान पर अवलबित रहना ही मनुष्य की नियति थी। कम का जीवन मे कोई महत्त्व न था।

'अजगर करै न चाकरी, पछी करै न काम' यही सिद्धात समाज मे लागू था। प्रवत्ति के आख्याता दिनकर 'कुरुक्षेत्र' मे भाग्यवाद पर कमवाद की विजय स्थापित कर जीवन मे कम की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं—

"ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य मे
मनुज नही लाया है
अपना सुख उसने अपने
भुजबल से ही पाया है।"[12]

भाग्यवाद को वे पाप मानते हैं—

"भाग्यवाद आवरण पाप का
और अस्त्र शोषण का,
जिससे रखता दबा एक जन
भाग दूसरे जन का।'[13]

कमठता का सदेश देते हुए वे कहते हैं—

"नर समाज का भाग्य एक है,
वह श्रम, वह भुज-बल है,
जिसके सम्मुख झुकी हुई
पृथ्वी, विनीत नभ तल है।"[14]

मध्ययुग मे जगन्मिथ्या की धुरी से चिपके रहने के फलस्वरूप समाज मे अकमण्यता और जीवन से निवृत्ति का बोल-बाला था। भीष्म निवत्तिवादियो को सचेत करते हुए कहते हैं—

"धमराज, कमठ मनुष्य का
पथ सन्यास नही है,
नर जिस पर चलता वह
मिट्टी है, आकाश नही है।"[15]

जो व्यक्ति वतमान का तिरस्कार करके दिन रात मरण का ही चितन करता है, वह कभी किसी समाज के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो सकता—

तिरस्कार कर वतमान
जीवन के उद्वेलन का,

करता रहता ध्यान अहर्निश
जो विद्रूप मरण का।
अकमण्य वह पुरुष काम
किसके, कब आ सकता है?
मिट्टी पर कैसे वह कोई
कुसुम खिला सकता है।"[16]

इसी कारण वे इस जगत् की, इस मिट्टी की सेवा कर कमठ सन्यासी बनने का सदेश देते हैं—

"मिट्टी का यह भार सभालो,
बन कर कमठ स यासी,
पा सकता कुछ नही मनुज
बन केवल व्योम प्रवासी।"[17]

दिनकर मिट्टी की महिमा का गान करते हुए स्वग से धरती को अधिक आकषक और आत्मीय मानते हैं। वे धरती से स्वग की नही अपितु स्वग से धरती की यात्रा कर उसे गौरवान्वित करते है। 'उवशी' की स्वगलोकवासिनी अप्सराए धरती के सौन्दय पर मुग्ध हो जाती हैं। 'उवशी' की सहज या कहती है—

"धुली चान्नी मे शोभा मिट्टी की भी जगती है
कभी-कभी यह धरती भी कितनी सु दर लगती है
जी करता है यही रहे हम फूलो मे बस जाए।"[18]

इस प्रकार दिनकर की काव्य चेतना नवोत्थान की भाव भूमि पर ही पल्लवित, पुष्पित हुई है। किसी कृति के सामाजिक सदभ का विश्लेषण करने से पूर्व आवश्यक होता है कृतिकार के उस परिवेश को जानना जिसकी कोख से वह उत्पन्न हुआ है। वस्तुत परिवेश केवल प्रतिक्रिया ही नही, मूल्यबोध भी है। समाज द्वारा स्वीकृत, सवमान्य और बहुप्रयुक्त प्रक्रिया ही नवीन मूल्यो को जन्म देती है। दयान द, विवेकान द, राजा राममोहन राय, गाधी अरवि द आदि के सुधारात्मक दष्टिकोणो ने जिस मानवतावादी परिवेश का निर्माण किया, उसी के प्रतिक्रियास्वरूप भारत दु से लेकर आज तक के साहित्य मे मानव सम्ब धी नवीन मूल्य विकसित हुए। मानव अपने सत्कर्मों से देवता बन सकता है, नारी के प्रति बन्ला हुआ दृष्टिकोण, नारी सगिनी सहधर्मिणी, शक्तिदायिनी है, वह मात्र भोग्या नही है। ये समस्त मूल्य परिवर्तित सामाजिक परिवेश की देन हैं।

2

उर्वशी का आधुनिक परिप्रेक्ष्य

प्राचीन कथा नव्य सदभ

उवशी पुरुरवा कथा का मूल उत्स ऋग्वेद के दशम् मडल मे आठवें अनुवाक 95वें सूक्त मे मिलता है। इस सूक्त से यही ज्ञात होता है कि उवशी पुरुरवा को छोडकर चली गई है। पुरुरवा उसकी खोज करता है। एक दिन उवशी उसे मिल जाती है। पुरुरवा साथ रहने का आग्रह करता है, किन्तु उवशी अस्वीकार कर देती है। ऋग्वेद की यही कथा 'शतपथ' में अधिक विस्तार और मोहक रूप मे कही गई है। इस कथा के अनुसार उवशी पुरुरवा का पतीत्व तीन शर्तों के आधार पर स्वीकृत करती है—1 पुरुरवा उवशी की इच्छा के बिना समागम नही करेगा। 2 पुरुरवा उवशी के दो मेषो की रक्षा करेगा, 3 उवशी पुरुरवा को नग्नावस्था मे नही देखेगी, अन्यथा उवशी पुन स्वर्ग लौट जायगी। इन शर्तों का निर्वाह करते हुए दोनो बहुत समय तक साथ-साथ रहे। गन्धव उवशी का वियोग और अधिक न सह सके। एक रात उन्होंने उवशी के मेष शिशुओ को चुरा लिया। यह देखकर उवशी सहायता के लिए चिल्लाई। पुरुरवा उस समय नग्नावस्था मे था। उवशी की पुकार सुन वह तुरन्त उसी दशा मे गधर्वों के पीछे दौड पडे। अवसर देखकर गधर्वों ने प्रकाश कर दिया, जिसमे राजा को नग्न देखकर उवशी प्रतिज्ञानुसार लुप्त हो गई।

महाभारत मे यह कथा पुरुरवा से सम्बन्धित न होकर उवशी अजुन से सम्बन्धित है। एक बार अर्जुन के स्वागताथ इन्द्र सभा मे नृत्य का आयोजन किया जाता है, उसमे उर्वशी अजुन के प्रति आकृष्ट हो जाती है किन्तु अजुन उसे माता के रूप मे देखता है। कामातुर उवशी रुष्ट होकर अजुन को एक वष तक नपुसक रहने का शाप देती है। एक अन्य कथा के अनुसार भरत-शाप के कारण उवशी पुरुरवा की पत्नी बनी और पुरुरवा ने जब आयु नामक अपने पुत्र का मुख देख लिया, तब उवशी पुरुरवा को छोड स्वगलोक चली गई। कालिदास ने विक्रमो वशीयम मे इसी कथा को लिया है। किन्तु सुखान्त कथा बनाने के लिए अन्त में नारद द्वारा इन्द्र के आज्ञा परिवतन की उद्भावना की है, जिसके कारण उवशी

श्रापमुक्त होकर पुरुरवा के साथ रहने लगती है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी उवशी की कथा को लिया है, किन्तु उसे सवथा वायवीय धरातल पर प्रस्तुत किया है। महर्षि अरविन्द ने भी 'उवशी' नामक काव्य की रचना की, किन्तु औशीनरी का उल्लेख न कर पुरुरवा उवशी को सन्यस्त कर काम के आकुल उफान को शान्त किया है।

'उवशी' के सगुफन मे कवि को यही समद्ध परम्परा प्राप्त हुई है। किन्तु इस कथा को लेने मे उनका उद्देश्य वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति या वैदिक प्रसग का प्रत्यावतन नही था।[19]

वस्तुत कोई भी कृति अपने युगबोध अपने परिवेश से निस्सग नही हुआ करती। किसी प्राचीन कथा को लेने का अभिप्राय यह नही होता कि कवि उस परम्परा मे मात्र एक कडी जोड देना चाहता है। विचारो की सपदा अवश्य उसे परम्परा से प्राप्त होती है, किन्तु उनमे जीते हुए निरन्तर विकसित और आधुनिक होने की अनिवायता वह अपने परिवेश से ग्रहण करता है। कवि मत्यु का उपासक नही होता, उसका जीवन इतिहास-सापेक्ष है। अपने यथाथ को वहन करते हुए निरन्तर बदलते परिवेश की सवेदना को ग्रहण करते हुए लिखने का प्रयास ही कवि के जीवन को साथकता देता है। वस्तुत प्राचीन कथा की पौराणिकता की रक्षा करते हुए उसे आधुनिक रूप देना बडे साहस का काय है। नरेश मेहता का कथन है, "एक युग की गरिमा दूसरे युग की गरिमा हो, इसकी कोई स्वीकृति नही। ऐसी स्थिति में विभिन्न युगीन गरिमाओ को योजित करना खतरे से खाली नही। इसके अतिरिक्त विभिन्न मूल्यो, बोधो वाले समाज मे कोई चरित्र लेकर एकदम विपरीत मूल्यो, बोधो, मान्यताओ के उद्देश्य के लिए प्रस्तुत करना काफी सकटपूण होता है, लेकिन ऐसा सकट एक रचनाकार का ही हो सकता है और बिना सकट उठाए किसी के लिए भी केवल रचना ही नही उसकी उपलब्धि सभव नही।"[20] दिनकर इस चुनौती को स्वीकार ही नही करते, अपितु उसका प्रत्युत्तर भी देते हैं।

'उवशी' का ढाचा प्राचीन है, किन्तु ज्वाला उसमे आधुनिक युग की धधक रही है।[21] 'उवशी' की आधुनिकता अपने ऐतिहासिक क्रम और सामाजिक सदर्भों से प्रस्फुटित हुई है। लेखक सदैव अन्तर्द्वंद्वो से ग्रस्त रहता है। बदलते परिवेश म, जहा मूल्यो का टकराव हो मानवीय सम्बन्धो मे असगतियाँ उत्पन्न हो गयी हो, ऐसी स्थिति को देखकर, अनुभव के स्तर पर जीकर, सवेदनात्मक स्वर मे कुछ कहना ही कवि का दायित्व बन जाता है। 'उवशी' मे इन विसगतियो के प्रतीक हैं औशीनरी-पुरुरवा और उनका खडित दाम्पत्य।

औशीनरी सती नारी की त्रासदी

औशीनरी की त्रासदी उस परम्परागत नारी की त्रासदी है, जिसका सती रूप पराकाष्ठा पर पहुचा हुआ है, किन्तु वह अपने अप्सरा तत्त्व को उभार नही पायी है। प्राचीन युग से ही नारी के सती रूप को इतनी अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है कि उसका अप्सरा पक्ष धूमिल हो गया है। नारी की महिमा उसके सती रूप को लेकर ही हुई है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' तथा 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' जैसी उक्तिया सती नारी को गौरवान्वित करने के लिए ही कही गयी हैं।

सती नारी पति के प्रति एकान्त समर्पण मे ही अपने जीवन की साथकता मानती है। पति ही उसका देवता, आराध्य, स्वामी सभी कुछ होता है। नीत्से का कथन है—"नारी के लिए प्रेम मात्र भक्ति नही होता, वरन् बिना कुछ लुकाये-छिपाये, बिना किसी तरह का हील-हवाला किये या प्राप्ति की आशा किये अपनी देह और आत्मा को सपूर्ण रूप से समर्पित कर देने का भाव होता है।" औशीनरी ऐसी ही नारी है, जिसका अपना कोई व्यक्तित्व नही है। पति के प्रति निस्वाथ सेवा, त्याग निष्ठा म ही उसके जीवन का सार है। डॉ० राधाकृष्णन् का कथन है, "शताब्दियो की परम्परा ने भारतीय नारी को सारे ससार मे सबसे अधिक निस्त्राथ, सबसे अधिक आत्मत्यागी और सबसे अधिक धैयशील और सबसे अधिक कतव्यपरायण बना दिया है।"[22] वस्तुत "वह बचपन से पुरुष को एक अद्वितीय व्यक्ति के रूप मे देखने की अभ्यस्त होती है, जिसकी बराबरी वह नही कर सकती, इसलिए इस शक्तिशाली व्यक्तित्व मे खुद को एकाकार कर देने के स्वप्न देखती है। इसके अतिरिक्त उसे अन्य कोई माग दिखाई नही देता। वह अपनी इस गुलामी को ही स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति समझने लगती है।"[23] इसी कारण वह पुरुष के चरणो म सवस्व अर्पित कर देने मे ही जीवन की साथकता समझती है। यद्यपि सती धम अपने आप मे महान आदश है सपूण ससार मे इससे ऊचे आदश की कल्पना तक नही की गई है। किन्तु नित नवीनता के आग्रही पुरुष मे नारी का यह एकरसीय व्यवहार बासीपन की भावना को जन्म देता है। फलत वह नयी हरियालियो की ओर आकृष्ट होता है। रसेल का कथन है, 'वे व्यक्ति जिनम किसी प्रकार का रूढि निषेध नही रहता सम्भव है वे कुछ वष तक एक ही नारी के प्रति आसक्त रहे, किन्तु कुछ वर्षो के पश्चात उनका भोग मन्द पड जाता है और तब वे पुरानी पुलक की खोज मे औरो की ओर देखने लगते हैं।"[24]

पुरुरवा ऐसा ही पुरुष है। औशीनरी के एकरसीय व्यवहार से वह ऊब चुका है। इसी कारण वह उवशी की ओर आकृष्ट होता है। उवशी को पाकर वह निहाल हो जाता है, उवशी के व्यक्तित्व मे पुरुरवा को अपने व्यक्तित्व की पूर्णता के चिह्न दृष्टिगोचर होते ही वह कहता है—

"एक मूर्ति मे सिमट गयी किस भाँति सिद्धियाँ सारी ?
कब था ज्ञात मुझे इतनी सुन्दर होती है नारी ?"[25]

पुरुष सदैव कमठता के कोलाहल मे घिरा रहता है, नारी के पास वह इस इच्छा से आता है कि वह उसे ताजगी और शीतलता से आप्लावित कर दे।

"सघर्षों से श्रमित-श्रान्त हो पुरुष खोजता विह्वल
सिर धर कर सोने का, क्षण भर, नारी का वक्षस्थल।
आखो मे जब अश्रु उमडते, पुरुष चाहता चुम्बन,
और विपद मे रमणी के अगो का गाढालिंगन।

जलती हुई धूप मे आती याद छाह की, जल की,
या निकुज मे राह देखती प्रमदा के अचल की।
और नरा मे भी, जो जितना ही विक्रमी, प्रबल है,
उतना ही उद्दाम, वेगमय उसका दीप्त अनल है।"[26]

औशीनरी पुरुष की यही वृत्ति समझ नही पाती। तन मन से पति चरणो मे अर्पित हो जाने म ही वह अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती है।

"अरी, कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक न कर सकी हू ?
कौन पुष्प है जिसे प्रणय वेदी पर धर न सकी हू ?
प्रभु को दिया नही, ऐसा तो पास न कोई धन है।
न्योछावर आराध्य चरण पर सखि! तन, मन, जीवन है।"[27]

पुरुरवा वस्तुत रोमाटिक पुरुष है। रोमाटिक पुरुष दूरी के रोमास को पसन्द करता है। वह उसी नारी की ओर आकृष्ट होता है जो सभी नारियो मे छिपी विचित्रता की सार हो, जो पुरुष मे आकाक्षा को जाग्रत तो करती हो किन्तु उसे तप्त करने से भागती हो। स्वप्न सदृश्य बाहा मे उडी-उडी आती हो और लहर सी लौटकर फिर अन्धकार मे खो जाती हो—

"क्षण क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर-फिर जो चुम्बन लेकर,
ले समेट जा निज को प्रिय के क्षुधित अक मे देकर,
जो सपने के सदश बाहु मे उडी-उडी आती हो
और लहर सी लौट तिमिर मे डूब डूब जाती हो
प्रियतम को रख सके निमज्जित हो अतृप्ति के रस मे,
पुरुष बडे सुख से रहता है उस प्रमदा के बस मे।"[28]

"रोमाटिक प्रेम मे प्रेम-पात्र सच्चे रूप मे दिखाई नही पडता, बल्कि सौन्दय के कुहासे म से दीखता है।' इसीलिए नारी को धुधलके मे ही पुरुष की ओर उन्मुख होना चाहिए और धुधलके मे ही स्वय को समेट लेना चाहिए। किन्तु सती नारी पति से गोपनीयता रखना पाप समझती है, सम्पूण समपण ही उसके जीवन का आदश होता है।

यह सत्य है, पराजित भी वह इसी आदश के फलस्वरूप होती है—

गृहिणी जाती हार दांव सम्पूण समपण करके,
जयिनी रहती वनी अप्सरा ललक पुरुष मे भरके।
पर, क्या जाने ललक जगाना पर मे गहिणी नारी ?
जीत गई अप्सरा, सखी ! मैं रानी बनकर हारी।"[29]

रसेल का कथन है, "रोमाटिक प्रेम का मूल तत्त्व यह है कि इसम प्रेम के पात्र को पाना बडा कठिन माना जाता है और उसे बहुमूल्य समझता जाता है।"[30] दिनकर भी यही कहते हैं—

"कौन कहे ? यह प्रेम हृदय की बहुत बडी उलझन है।
जो अलभ्य, जो दूर, उसी को अधिक चाहता मन है।"[31]

पुरुरवा उवशी को बडी कठिनाई से प्राप्त करता है, जबकि औशीनरी उसे सहज ही प्राप्त हो गई थी। मदनिका पुरुष की इसी प्रकृति की ओर सकेत करते हुए कहती है—

"कर स्पश से दूर स्वप्न झलमल नर को भाता है।)
छक कर जिसको पी न सका, वह जल नर को भाता है
ग्रीवा मे झूलते कुसुम पर प्रीति नही जगती है,
जो पद पर चढ गयी, चादनी फीकी वह लगती है।"[32]

परम्परागत आदर्शों से युक्त औशीनरी की यही विडम्बना है। सतीत्व की गरिमा से युक्त पुरुष पर सभी कुछ निस्वाथ होकर अर्पित कर देने मे ही वह जीवन की साथकता मानती है। किन्तु पुरुष जब उसकी निष्ठा और गाम्भीय से ऊब कर नये सौन्दय, नई पुलक की खोज मे उसके बन्धन को तोड देता है, तब औशीनरी के पश्चात्ताप की सीमा नही रह जाती तब ही उसे अपनी भूल ज्ञात होती है जब उवशी बाजी मार ले जाती है—

गँवा दिया सवस्व हाय मैंने छिपकर छाया मे,
अस्वीकृत कर खुली धूप मे आख खोल चलने से।
देवि ! प्रेम के जिस तट पर अप्सरा स्नान करती है,
गयी नही क्यो मैं तरग आकुल उस रसित पुलिन पर ?"[33]

यही सती नारी की त्रासदी है। अन्त मे औशीनरी अछता-पछता कर रह जाती है—

"पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड ब्रीडा का
व्यजित होने दिया नही क्यो मैंने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नही, मुझमे भी छिपी हुई थी ?"[34]

वस्तुत "औशीनरी जिसका अभाव महसूस करती है उवशी ने वही वस्तु पुरुरवा को दी। इसीलिए उवशी की अप्सरा औशीनरी की सती को परास्त करती है।"[35]

औशीनरी की अपेक्षा सुकन्या पुरुष की प्रकृति से अधिक परिचित है। वह जानती है कि चट्टानों और पर्वतों से टकराने वाला विख्यात, भीम, दुर्जय पुरुष भी हृदय की तृष्णा के सामने पराजित हो जाता है। जगत् की सभी उलझनों से त्राण पाने में वह समर्थ होता है, किन्तु अपनी ही बनाई हुई उलझनों से निकलने में वह असमर्थ होता है। इसीलिए गृहिणी को सचेत होकर पुरुष के अभावों और उलझनों को देखना होता है।

"इसीलिए दायित्व गहन, दुस्तर गार्हस्थ्य नारी का।
क्षण क्षण सजग, अनिद्र-दृष्टि देखना उसे होता है,
अभी कहाँ है व्यथा ? समर में लौटे हुए पुरुष को
कहाँ लगी है प्यास, प्राण में काँटे कहाँ चुभे हैं ?"[36]

यद्यपि दिनकर की स्थापना है "प्रश्नों के उत्तर रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है।"[37] किन्तु 'उर्वशी' में दिनकर केवल औशीनरी के दर्द और बेचैनी से ही आन्दोलित नहीं हुए हैं, वरन् आधुनिक युग की नर-नारी समस्या ने भी दिनकर के मानस को आन्दोलित कर उसका समाधान प्रस्तुत करने के लिए बाध्य किया है। 'उर्वशी काव्य की समाप्ति' नामक अपनी कविता में औशीनरी के चरित्र के संबंध में अपनी विवशता को वाणी देते हुए कहते हैं—

"मिन्नतें बहुत की माया की
युवती पुरुरवा जाया की,
पर वह अजीब जिद्दी निकली,
अपनी शरारतों से न टली।
बैठ ही गयी लेकर यह प्रण,
पट का न करूंगी उन्मोचन
पर, मैं किवाड़ कूटता रहा,
पूरे बल से टूटता रहा।"[38]

किन्तु गौरवान्वित वे सती नारी को ही करते हैं। वस्तुतः उनकी सम्पूर्ण निष्ठा, अशेष श्रद्धा नारी के सती रूप पर ही है, 'उर्वशी काव्य की समाप्ति' कविता में वे कहते हैं—

"जो त्रिया अन्त में आती है,
वह क्यों सब पर छा जाती है
क्यों नीति काम को मार गयी
अप्सरा सती से हार गयी।"[39]

उर्वशी का अन्तर्धान होना इसी का सूचक है कि दिनकर को नारी का केवल अप्सरा रूप ग्राह्य नहीं है। सती नारी की वन्दना करते हुए दिनकर कहते हैं—

"पर, मैं क्या करू ? सती नारी
आती जब लिये प्रभा सारी
करतब वह यही दिखाती है,
सबके ऊपर छा जाती है।"40

वस्तुत दिनकर चाहते हैं कि नारी को पुरुष से अप्सरावत गोपनीयता भी बनाये रखनी चाहिए। इस सदर्भ मे उनका कथन है, "मैं नारी को शय्या पर अप्सरा और शेष समय लक्ष्मी देखना चाहता हू।"41

पुरुरवा आधुनिक मानव की विडम्बना

पुरुरवा आधुनिक युग के मानव का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुत पुरुरवा का निर्माण स्वय दिनकर के व्यक्तित्व की भाव ऊर्मियो से हुआ है। 'उर्वशी' मे पुरुरवा कहता है—

"मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हू मैं,
उर्वशी ! अपने समय का सूर्य हू मैं।'42

सूर्य का अर्थ दिनकर होता है। 'उर्वशी काव्य की समाप्ति' कविता मे 'उर्वशी' रचना प्रतिक्रिया को खोलते हुए दिनकर कहते हैं—

'मैं ही पुरुरवा राजा था
हा, तब अब से कुछ ताजा था।
था उसे पिलाता केवल घृत,
खुद मैं पीता था सोम अमृत।
उन दिनो रोग से खाली था,
मैं बडा पुष्ट बलशाली था।' 43

दिनकर 'उर्वशी' की भूमिका मे भी यही स्वीकृति देते हैं "शायद, अपने से अलग करके मैं उसे देख नही सकता, शायद वह अलिखित रह गयी, शायद वह इस पुस्तक मे व्याप्त है।' 44 कहने का तात्पर्य यह है कि दिनकर के व्यक्तित्व की द्वद्वात्मकता ने प्रेम और श्रृगार की उनकी सुकुमार चेतना ने पुरुरवा जैसे अद्वितीय नायक के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। डॉ० विजेन्द्रनारायण सिंह ठीक ही लिखते हैं 'हिन्दी कविता के नायको की गैलरी से यदि पुरुरवा को निकाल दिया जाय तो वह गैलरी प्रभाहीन हो जाएगी।' 45 आदिकाल से आधुनिक काल तक हिन्दी कविता मे ऐसे नायक का निर्माण नही हुआ चाहे वह चदबरदायी के पृथ्वीराज हो, साकेत के राम हो अथवा कामायनी के मनु—पुरुरवा इन सभी से विलक्षण है, जिसमे अदम्य पौरुष के साथ साथ कविहृदय की सुकुमारता भी कम नही। उर्वशी उसके इसी रूप पर मुग्ध होकर कहती है—

"स्यात् दिखाने को, धरती जब महावीर जनती है,
असुरो से वह बली, सुरो से भी मनोज्ञ होता है।"[46]

अपने पुरुषार्थ से पुरुरवा ने सभी कुछ प्राप्त कर लिया है और सौभाग्य से प्रत्येक सुयश, सुख, सिद्धि उसके जीवन मे अनायास स्वयमेव ही प्राप्त होती आयी है।[47] उवशी जैसी अनिन्द्य सुन्दरी उस पर आसक्त है, किन्तु ये सभी सुख उसे सतोष नही दे पाते, इन सबसे आगे बढकर वह किसी अन्य अतीन्द्रिय आनन्द की कामना के लिए आकुल-व्याकुल है। यह आधुनिक मानव की विडम्बना है। सभी कुछ प्राप्त होते हुए भी वह मन से विपण्ण है, भीतर से रिक्त है। मन के शून्य को भरने के लिए वह ऐन्द्रिय-अतीन्द्रिय, मृण्मय चिन्मय, स्थूल-सूक्ष्म के द्वन्द्व मे दोलायमान होता रहता है।

"मत्ति महदाकाश मे ठहरे कहा पर ? शून्य है सब।
और नीचे भी नही सतोष,
मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अम्बर नही है।"[48]

पहले का व्यक्ति यदि जीवन मे प्रवृत्त होता था तो पूरी तन्मयता से और यदि जीवन से विमुख होता था तो सदा के लिए। उसके मन मे कही द्वन्द्वों का आलोचन विलोचन नही था, किन्तु आधुनिक युग के व्यक्ति की यही विवशता है, वह जीवन को उसकी समग्रता मे भोगने मे असमथ है। पुरुरवा के माध्यम से दिनकर ने आधुनिक युग के मानव की द्विधा को सशक्त वाणी दी है—

"रूप का रसमय निमन्त्रण
या कि मेरे रुधिर की वह्नि
मुझको शान्ति से जीने न देती।
हर घडी कहती, उठो,
इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोडो,
पान कर लो यह सुधा, मैं शान्त हूगी,
अब नही आगे कभी उदभ्रान्त हूगी।

किन्तु दूसरे ही क्षण जब—

"रस के पात्र पर ज्यो ही [illegible]का हू अधर [illegible]
घूट या दो घूट पीते ही
न जाने, किस अतल से नाद [illegible]ह आती
"अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नही है।
रूप की आराधना का माग आलिगन नही है।"[49]

यह आधुनिक युग के व्यक्ति की त्रासदी है। डॉ० नगेन्द्र कहते हैं, "पुरुरवा

के युग का भारतीय पुरुष है—जो सस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सवथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न पूवजो की भाति मणमय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति मे लीन हो सकता है।[50] उवशी उसकी इसी मन स्थिति पर खीभ कर कहती है—

"तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ आलिंगन मे,
मन से, किन्तु, विषण्ण दूर तुम कहा चले जाते हो ?
बरसा कर पीयूष प्रेम का, आखो से आखो मे,
मुझे देखते हुए कहा तुम जाकर खो जाते हो ?
कभी-कभी लगता है, तुम से जो कुछ भी कहती हू
आशय उसका नही, शब्द केवल मेरे सुनते हो।"[51]

आधुनिक सभ्यता ने मनुष्य के तन और मन के बीच विभाजन रेखा खीच दी है। उसकी चेतना को, उसके व्यक्तित्व को खडित कर दिया है। वह तन से कही है और मन से कही। उसकी भावना की तीव्रता बौद्धिक स्तर पर चिन्तन ने ले ली है। इसी कारण वह जीवन के रस को छक कर पीने मे असमथ है।[52] क्षण म तो भावनाओ का ज्वार सपूण वेग से उफनता है, किन्तु पुन मन कही किसी गुह्य लोक म विचरण करने लगता है।

"क्षण म प्रेम अगाध, सिन्धु हो जैसे अलोडन म,
और पुन वह शान्ति, नही जब पत्ते भी हिलते हैं।
अभी दृष्टि युग-युग के परिचर से उत्फुल्ल हरी सी,
और अभी यह भाव, गोद मे पडी हुई मैं जैसे
युवती नारी नही, गगना की कोई कविता हू।"[53]

पुरुरवा का द्वन्द्व उस चिन्तनशील व्यक्ति का द्वन्द्व है, जो विवेकशून्य होकर काम को न तो जैव धरातल पर, ऐन्द्रिय सुख के लिए भोग सकता है और न तो काम के प्रति अबाध आसक्ति से मुक्त ही हो सकता है।[54] वस्तुत वह एक नयी नैतिकता के लिए छटपटा रहा है, एक ऐसी नैतिकता के लिए, जो आधुनिक बोध क साथ समुचित व्यावहारिक सतुलन उत्पन्न कर सके, किन्तु उसकी यह छटपटाहट निरथक सिद्ध हो रही है। इस सक्रमण की प्रक्रिया से गुजरते हुए, द्वन्द्व की यातनाओ को भोगते हुए वह कही चन नही पा रहा है। पुराने मूल्यों से चिपके रहना वह नही चाहता और नये मूल्यो को वह गढ नही सकता।

पुरुरवा की इस द्विधा के भीतर कही न कही उसका अपराध-बोध भी है। औशीनरी के निर्भोग समपण और सपूण आत्मदान का तिरस्कार कर यह उवशी की ओर उन्मुख तो होता है किन्तु उसकी अन्तरात्मा अवश्य ही उसे कचोटती है। इसी सदभ म दिनकर का कथन है, वह उन मानवों का प्रतीक है, जो मूल्य की अवहेलना करके सफलता प्राप्त करते हैं और फिर भीतर ही भीतर मूल्य की

महिमा पर रीझ कर तडपते रहते हैं।"[55]

दूसरी ओर पुरुरवा अत्य त ही सुसस्कृत व्यक्ति है। वह नारी को मात्र उपभोग की वस्तु नही समझता है या उस पर अपना ज मसिद्ध अधिकार नही मानता। उवशी जब स्वगलोक से भूलोक पर उसके प्रणय मे बधी चली आती है, तब वह कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए कहता है ' चिरकृतज्ञ हू इस कृपालुता के हित।"

कि तु इतना निश्चित है कि पुरुरवा सक्रमण की प्रक्रिया से गुजरता हुआ द्विधाग्रस्त व्यक्ति है। आधुनिक युग मे जीवन विषयक परम्परागत धारणा टूट रही है और नवीन धारणा बनने के कोई चिह्न नजर नही आ रहे हैं। दोनो तरफ से हमारा सामाजिक जीवन दब रहा है। परिणामत इस समाज मे ऐसा व्यक्ति उभरने लगा है, जिसकी सवेदनक्षमता ही जैसे खो गई हो, उसे जैसे अपने आसपास की कोई घटना स्पश ही नही कर रही हो। इस सवेदनशू यता के फलस्वरूप आज के मानव का न प्रेम ही इतना उद्दाम रह गया है और न विरह ही इतना गहन कि किसी कवि को 'मेघदूत' रचने के लिए प्रेरित कर सके। पुरुरवा उवशी से प्रेम करता है, कि तु उसे प्राप्त करने का प्रयास तक नही करता (केवल बहानेबाजी करता है)। उवशी स्वय उसके पास आयी है। वह तो इसी प्रतीक्षा म बठा रहा कि उसके हृदय की पीडा जब उवशी के मन को उद्वेलित कर दगी, तब वह स्वय ही उसके पास चली आयेगी।

"इसीलिये, असहाय, तडपता बैठा रहा महल मे,
लेकर यह विश्वास, प्रीति मेरी यदि मृषा नही है,
तो मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नही रुकेगा,
जलद-पुज को भेद, पहुचकर पारिजात के वन मे
वह अवश्य ही कर देगा स तप्त तुम्हारे मन को।
और प्रीति जगने पर तुम वैकुण्ठ-लोक को तज कर
किसी रात निश्चय, भूतल पर स्वय चली आओगी।"[56]

उवशी के स्वग लौट जाने पर भी वह स्वग से लोहा लेने का आक्रोश तो व्यक्त करता है, कि तु उसे क्रियान्वित नही करता

"लाओ मेरा धनुष, सजाओ गगन जयी स्य दन का
सखा नही, वन शत्रु स्वग-पुर मुझे आज जाना है।
और दिखाना है, दाहकता किसकी अधिक प्रबल है,
भरत शाप की या पुरुरवा के प्रचड बाणा की।"[57]

वस्तुत "आज क मनुष्य का कमपक्ष निस्तेज हो गया है। आज का मनुष्य चिन्तन मे लम्बी-लम्बी बात तो करता है, पर कम मे कदाचित ही कभी प्रवृत्त होता है। आज के मनुष्य का सघष अधिक दार्शनिक और एकेडमिक होता है।"[58]

अन्त म पुरुरवा अपने अन्तमन की आवाज सुन स यास के लिए प्रस्थान

करता है। उसे बोध होता है—

"इन दहिक सिद्धियो, कीर्तियो के कचनावरण मे,
भीतर ही भीतर, विषण्ण मैं कितना रिक्त रहा हू।
अ तरतम के रुदन, अभावो की अव्यक्त गिरा को
कितनी बार श्रवण करके भी मैंने नही सुना है।"[59]

उसका अ तमन उसे चेतावनी दता है कि तेरे प्रत्येक उचित-अनुचित निणय से आगामी भविष्य का मनुष्य प्रभावित होता है—

"चिन्तन कर यह जान कि तेरे क्षण-क्षण की चिता से
दूर-दूर तक के भविष्य का मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि तेरे पद के निक्षेपो की
आगामी युग के कानो मे ध्वनिया पहुच रही है।'[60]

स्पष्ट है पुरुरवा ने ऐसे कम किये हैं जिसके लिए उसकी आत्मा उसे चेतावनी दे रही है। यदि वह आदश पुरुष होता तो उसकी अ तरात्मा से यह आवाज न आती।[61]

उर्वशी हृदय का अप्रतिहत आवेग

उवशी हृदय के अप्रतिहत आवेग से प्रेरित है। हृदय राग का प्रतीक है। अपनी प्रारभिक अवस्था मे मनुष्य अपने हृदय के सहजावेग से परिचालित था, इसी कारण क्रोध म तुरत तलवार लेकर प्रस्तुत हो जाता था और प्रेम म वलपूवक अपनाने के लिए भी उद्यत हो जाता था। वुद्धि की चकाचौध से वह सवथा मुक्त था। सभ्यता के विकास के साथ मानव हृदय से कम और बुद्धि से अधिक परिचालित हो गया है प्रत्येक वस्तु को बुद्धि की आख से दखने का आदी हो गया है। फलत ज्ञान के मरु दश मे उसके शोणित का रस सूख गया है। बौद्धिकता के अतिशय आग्रह के फल स्वरूप वह जीवन को उसकी समग्रता मे भोगने मे असमय हो गया है। उसकी भावना की तीव्रता बौद्धिक स्तर पर चिन्तन ने ले ली है। सभोग के प्रगाढतम क्षणो को वुद्धि से परिचालित पुरुरवा तन्मय होकर भोग नही पाता। उवशी उससे शिकायत करती है—

"तन से मुझ को कसे हुए अपने दढ आलिगन मे,
मन से, कितु विषण्ण दूर तुम कहा चले जाते हो।'[62]

बुद्धि सशय को जन्म देती है। इसी कारण पुरुरवा द्वन्द्वो से ग्रस्त है। पुरुरवा की अपेक्षा उवशी द्वन्द्वो से सवथा मुक्त है। केलि के निविडतम क्षणो को वह सहज-भाव से निर्व्याज होकर भोगती है—

"उफ री यह माधुरी! और ये अधर विकच फूलो-से!
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते है,

रोम-कूप, जाने, भर जाते किन पीयूष-कणो से ।
और सिमटते ही कठोर बाहो के आलिगन मे,
चटुल एक पर एक उष्ण ऊर्मिया तुम्हारे तन की
मुझमे कर सक्रमण प्राण उन्मत्त बना दती है ।
कुसुमायित पवत समान तब लगी तुम्हारे तन से
मैं पुलकित विह्वल, प्रसन्न मूच्छित होने लगती हू ।"[63]

वस्तुत बुद्धि से अनुभूति अधिक प्रबल है । इन्द्रियगम्य, सहज स्वानुभूति ही सजीव होती है, बुद्धि द्वारा अजित ज्ञान निर्जीव होता है। उवशी शोणित की विश्वसनीयता का आकलन करते हुए कहती है—

"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्याकि बुद्धि सोचती है और शोणित अनुभव करता है
निरी बुद्धि की निर्मितिया निष्प्राण हुआ करती है,
चित्र और प्रतिमा, इनमे जो जीवन लहराता है,
वह सूझो से नही, पत्र पाषाणो मे आया है,
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से ।"[64]

साहित्य हो या कला मानवीय सवेदना और रागात्मक अनुभूति की उष्णता से सपृक्त होने के कारण ही दशन, इतिहास एव विज्ञान जैसे विषयनिष्ठ और वस्तुपरक उपयोगिता प्रधान विषयो से विशिष्ट माने जाते हैं, क्योकि उनमे प्राणो का स्पश और आत्मीयता की पुलक होती है, बुद्धि की चकाचौध नही । अनुभूति की कोख से उत्पन्न कला ही जीवन्त होती है । बुद्धि का प्रत्येक अनुभव मात्र तथ्य होता है, जबकि रुधिर का स्पश उसे सत्य बना देता है । लारेन्स का कथन है, "रुधिर मे विश्वास ही मेरा सबसे बडा धम है । मास बुद्धि की तुलना मे अधिक चतुर होता है । हम लोग अपने मन से गलती कर सकते हैं । लेकिन रुधिर जो अनुभव करता है, जो विश्वास करता है, जो कहता है वह हमेशा सच ही होता है ।"[65] उवशी भी उतने ही विश्वास से कहती है—

"पढो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का,
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी
छली बुद्धि की भाति, जिसे सुख-दुख से भरे भुवन मे
पाप दीखता वहा जहा सुन्दरता हुलस रही है,
और पुण्य चय वहा जहा कक्काल, कुलिश, काटे हैं ।"[66]

सभोग के प्रगाढतम क्षण मे जब नर-नारी सम्बन्धों के धरातल एक हो जाते हैं, उन क्षणो का वणन बुद्धि नही कर सकती, उसे तो केवल शोणित ही अनुभव कर सकता है । उवशी कहती है—

"श्रुतिपुट पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरो पर
रसना की गुदगुदी, अदीपित निश के अधियाले मे
रस माती, भटकती उगलियो का सचरण त्वचा पर,
इस निगढ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है ?

× × ×

उसे समझता रक्त, एक कम्पन जिसमे उठता है,
किसी दूब की फुनगी से औचक छू जाने पर भी ।"[67]

फ्लावेयर का कथन है, "सत्य, ऐन्द्रियता और यथाथ एक ही चीज है। हम यदि कोई उपदेश पढना है तो यह पाचो इन्द्रियो का उपदश ही है।" कबीर भी लगभग यही बात कहते हैं, "तू कहता कागद की लेखि, मैं कहता आँखिन की देखि।" किन्तु "अधिकाश व्यक्ति आख से न देखकर बुद्धि से देखते हैं। वे पुतलिया का प्रयोग न करके शब्दकोश का प्रयोग करते हैं। परिणामस्वरूप उन्हे जीवन के सुख दुखात्मक परिवेश का यथाथ ज्ञान नही हो पाता है। उनकी दृष्टि सकुचित और सीमित बन जाती है।"[68] उवशी भी प्रकारान्तर से यही बात कहते हुए इन्द्रिय गम्य अनुभव की सत्यता को प्रमाणित करती है—

"बुद्धि बहुत करती बखान सागर तट की सिक्ता का,
पर, तरग चुम्बित सकत मे कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिरहित त्वचा नग्न चरणो की।"[69]

बुद्धि की निंदा करते हुए उवशी कहती है—

' क्या विश्वास करे कोई कल्पना मयी इस धी का ?
अमित बार देती यह छलना भेज तीथ पथिको को
उस मन्दिर की ओर, कही जिसका अस्तित्व नही है।'[70]

उवशी बुद्धि की निष्प्राण झकार की अपेक्षा रुधिर की उत्तप्त लहरो के सगीत को महत्त्व देती है, क्योकि बुद्धि सदैव भ्रमो को उपजाती है, अजन वजन का सिख लाती है। बुद्धि द्वारा अर्जित नान कभी भी सत्य की सीमा को छू नही सकता। उवशी कहती है—

प्रकृति नही माया माया है नाम भ्रमित उस धी का,
बीचोबीच सप सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है,
एक जीभ से जो कहती कुछ सुख अर्जित करने को
और दूसरी से बाकी का वजन सिखलाती है।'[71]

दिनकर मे बुद्धिवाद का विरोध लारेन्स को पढकर ही नही आया है अपितु कुरुक्षेत्र मे भी जब उन्होने लारेन्स को पढा नही था, बुद्धिवाद का वे विरोध करते हैं। इतना अवश्य है कि लारेन्स को पढने के बाद दिनकर के विचार और अधिक परिपक्व हुए हैं। कुरुक्षेत्र मे दिनकर बुद्धि की निंदा करते हुए रुधिर की महत्ता

को प्रतिपादित करते हैं—

"हिम विमुक्त, निर्विघ्न तपस्या पर खिलता यौवन है,
नयी दीप्ति, नूतन सौरभ मे रहता भरा भुवन है।
किन्तु बुद्धि नित खडी ताक मे रहती घात लगाये,
कब जीवन का ज्वार शिथिल हो, कब वह उसे दबाये।
और सत्य ही जभी रुधिर का वेग तनिक कम होता,
सुस्ताने को कही ठहर जाता जीवन का सोता
बुद्धि फेंकती तुरत जाल निज मानव फस जाता है।
नयी-नयी उलझनें लिये जीवन सम्मुख आता है।"[73]

अत दिनकर बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान को सत्य नही मानते, उनके लिए तो रक्त की भाषा ही सत्य है।

3

नर-नारी सबध का आधुनिक परिप्रेक्ष्य

नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं, साथ ही समाज के अनिवाय अग भी। अध नारीश्वर की मूर्ति नर-नारी के पारस्परिक सबधो को मान्यता देने की प्रतीक है। वह सहयोगात्मक, परम्पराश्रित पुरुषोचित और स्त्रीजनोचित कृत्यो की, जो अलग रहते हुए अपूण रहते हैं और मिलकर पूणता प्राप्त करते हैं, अवधारणा को पुष्ट करती है। कालिदास नर-नारी सबध को शब्द और अथ के सबध के सदश मानते हैं।

किन्तु सामाजिक मूल्यो के बिखराव के कारण अब आधुनिक युग म नर नारी परस्पर पूरक न रहकर परस्पर विरोधी बन गये हैं। नये सामाजिक सन्दर्भों मे प्राचीन आदश एव मूल्य व्यथ लगने लगे हैं। परम्परागत मूल्यो का विघटन मानवीय सबधो की जिन इकाइयो पर तीव्रता से पडा है, वे हैं स्त्री और पुरुष के सबध। एक युग था जब नर नारी एक दूसरे को अपना पूरक समझते थे। समाज के क्रिया-कलापो मे केन्द्रीय भूमिका पुरुष निभाता था, इसी कारण नारी उसे एक अद्वितीय व्यक्ति के रूप मे देखने की आदी थी।[73] समाज द्वारा नैतिकता के दोहरे मानदड भी नारी को यही सोचने के लिए विवश करते थे कि पुरुष उससे श्रेष्ठ है, उसका सरक्षक है, उसका पालनकर्ता है। वस्तुत नारी का पालन पोषण ही इसी भाव से किया जाता था कि वह सदैव पुरुष पर आश्रित रहे, एक लता के सदश जिसका विकास वक्ष से लिपट कर ही हो सकता है।[74] पति अच्छा हो अथवा बुरा, पत्नी के प्रति ईमानदार हो या न हो स्त्री को इससे कुछ अन्तर नही पडता था। वह तो भाग्य और ईश्वर पर विश्वास रखकर पति-सेवा मे ही सारा जीवन व्यतीत कर देने मे अपने जीवन की सायकता मानती थी। पति ही उसका भगवान था, उसका सवस्व था। शय्या पर भी पुरुष की इच्छा ही सर्वोपरि होती थी, नारी पुरुष के लिए मात्र एक उपकरण थी, जबकि नारी के लिए पुरुष उसका एकमात्र आधार।[75]

किन्तु आधुनिक युग की शिक्षित नारी आर्थिक व मानसिक रूप से स्वतन्त्र है। उसकी आर्थिक स्वावलबिता ने उसे अपने योग्य वर चुनने की शक्ति दी है। इसी कारण परम्परागत रूप से विवाह को एक मजबूरी के रूप मे ग्रहण करने के

लिए विवश नही है। फिर भी नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व पुरुष से पूरी तरह से मुक्त नही हो सकता। नर-नारी की प्राकृतिक आवश्यकताए किसी मोड पर आकर दोनो को मिलने के लिए बाध्य करती हैं। इस आवश्यकता को महसूस करते हुए भी नारी अपने व्यक्तित्व, अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखना चाहती है। दूसरी ओर पुरुष समझ तथा शिक्षा मे आधुनिकता का समथक होकर भी सस्कारो मे रूढियो का पोपक है। पुरुष का परम्परा निर्मित अह और नारी पर एकाधिकार प्राप्त करने की भावना से आज भी वह स्त्री का अपनी वस्तु समझकर पूण नियत्रण म रखना चाहता है। नर नारी के सम्बन्धो के महत्त्व को वह मानता अवश्य है, किन्तु उसका अह उसे नारी के सम्मुख झुकन की स्वीकृति नही देता। परिणामस्वरूप नर नारी आज अपने व्यक्तित्व की पूणता की खोज मे दो भिन्न-भिन्न इकाइयो के रूप मे प्रतिष्ठित हो गये हैं।

स्त्री पुरुष सवधो का वदलाव काम के सदभ मे भी हुआ है। आधुनिक नर-नारी नयी नैतिकता के पोपक हैं। काम के सम्बन्ध मे जो परम्परागत पाप वोध की धारणा थी, उससे वे मुक्त हो गये हैं। वस्तुत वे यौनमुक्ति के आग्रही ह, किन्तु साथ ही आधुनिक युग की स्वावलम्बी नारी यौनमुक्ति की समस्याओ को अकेले झेलने के पक्ष मे भी नही है। यद्यपि परम्परागत वजनाओ से आधुनिक नारी मुक्त हो रही है, फिर भी स्वय को वह सुरक्षित महसूस नही कर पा रही है। एक तरफ व्यक्तित्व की पूणता का आग्रह दूसरी ओर असुरक्षा का भय, इन दो पाटो के बीच पिसती हुई नारी अन्त मे अपनी मजबूरी से समझौता करके, अत मे समर्पिता होकर रह जाती है। किन्तु दूसरी ओर नारी का एक रूप यह भी है कि वह अभी तक अपनी परम्परागत धारणाओ से मुक्त नही हो पा रही है। आज भी वह पुरुष को अपना सवस्व मानती है, और पूण रूप से उसी पर समर्पित होना चाहती है, किन्तु नित नवीनता का आग्रही पुरुष नारी के सती रूप स पूणतया ऊव चुका है। आधुनिक पुरुष न तो नारी का एकनिष्ठ समपण चाहता है और न ही उसे पूणरूप से मुक्ति प्रदान करना चाहता है। आधुनिक नर नारी सम्बन्ध की यही विसगतिया हैं।

आधुनिकता और प्रेम

अपन स्वतन्त्र व्यक्तित्व की तलाश मे नारी ने सबमे पहले उन परम्परागत मूल्या को चुनौती दी है जिनके बोझ से वह आज तक दबती आयी है। आधुनिक सामाजिक जागति और नैतिकता के नये मानदडा से नारी मे अपने व्यक्तित्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न कर दी है। आधुनिक नारी रूढियो और वजनाओ से पूणत मुक्त होने की आग्रही है। विवाह को वह एक अप्राकृतिक बन्धन मानती है।

बायरन ने एक स्थल पर लिखा है, ' प्रणय, पुरुष जीवन मे एक अलग वस्तु

की तरह होता है, जबकि नारी का समूचा अस्तित्व।" नीत्से भी लगभग यही बात कहते हैं, "नारी के लिए प्रेम मात्र भक्ति नहीं होता, वरन् बिना कुछ छिपाये, बिना किसी तरह का हीला हवाला किये या प्राप्ति की आशा किये अपनी देह और आत्मा को सपूर्ण रूप से समर्पित कर देने का भाव होना है।"

आधुनिक नारी ने प्रणय सम्बन्धी इन सारे मिथकों को चुनौती दी है। उसे न तो प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति आस्था है, न नैतिक व्यवस्था के प्रति। न वह समर्पिता होकर पुरुष के भाग्य पर जीना चाहती है, न ही परिणीता होकर किसी एक पुरुष के बाहुपाश में बंधकर उत्तरदायित्वों का पालन करना चाहती है। अपने अहं को विसर्जित कर प्रेम की वेदी पर सभी कुछ निस्वार्थ भाव से अर्पित कर देना वह मूर्खता समझती है।

'उर्वशी' में आधुनिका की प्रतीक रम्भा कहती है—

"सहजन्ये! पर, हम परियों का इतना भी रोना क्या?
किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या?"[76]

आधुनिक नारी ने अब उस पारम्परिक पत्नी-बोध से मुक्ति प्राप्त कर ली है, जिसमें केवल पातिव्रत धर्म ही उसके जीवन का सार था। अब वह सोचती है एक ही पुरुष के साथ सारा जीवन व्यतीत कर देने में कौन-सी अकलमंदी है। वस्तुतः वह मुक्त प्रणय की आकांक्षी है। रम्भा कहती है—

"अपना है आवास, न जाने, कितनों की चाहों में,
कैसे हम बंध रहें किसी भी नर की दो बाहों में?"[77]

वस्तुतः उन्मुक्त साहचर्य और आधुनिक नारी के प्रेम के सम्बन्ध में बदले हुए दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में बदला हुआ सामाजिक संदर्भ है—वह संदर्भ जो नारी की समग्र चेतना से जुड़ा हुआ है। नारी में व्यक्तित्व प्राप्त करने की आकांक्षा पुरुष प्रभुत्वपूर्ण समाज में अपनी स्थिति बनाने के लिए उत्पन्न हुई है। यह सच है कि अपनी स्थिति, अपने व्यक्तित्व के प्रति सचेतनता के फेर में वह अति तक पहुंच गयी है। दिनकर की काव्य चेतना आधुनिक भाव बोध से अनुप्राणित होते हुए भी नारी का यह रूप उन्हें ग्राह्य नहीं है। 'रसवन्ती' की 'नारी' कविता में आधुनिका की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं—

"जनाकीर्ण संसार बीच कितनों का मन बांधोगी?
निरुद्देश्य बेधोगी चलते राह हृदय किस किस का?"[78]

'उर्वशी' में यही बात रम्भा कहती है—

"प्रेम मानवी की निधि है अपनी तो वह क्रीडा है
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीडा है।"[79]

आधुनिक नारी प्रेम के लिए प्रेम करती है। प्रेम की वेदना को जगाती तो है,

किंतु एक ही खूटे से बधकर उसकी पीडाओ म अपने यौवन को गलाना नही चाहती।

"रचना की, वेदना जगाती, पर, न स्वय रचती हम,
बध कर कही विविध पीडाओ मे न कभी पचती हम।
हम सागर-आत्मजा सिन्धु-सी ही असीम उच्छल हैं,
इच्छाओ की अमित तरगो से भवृत, चचल हैं।"[80]

प्रेम और काम-सम्बन्धी सभी पूर्वाग्रहो और परम्परागत धारणाओ से मुक्त आधुनिक नारी, सेक्स को पाप का पर्याय न मानकर सुख और आनन्द का साधन मानती है।

"सच है, कभी कभी तन से भी मिलती रागमयी हम,
कनक रग मे नर को रग देती अनुरागमयी हम,
देती मुक्त उडेल अधर मधु ताप-तप्त अधरो मे,
सुख से देती छोड कनक-कलशो को उष्ण करो मे,
पर यह तो रसमय विनोद है, भावो का खिलना है,
तन की उदवेलित तरग पर प्राणो का मिलना है।"[81]

उन्मुक्त साहचय और भोग के प्रति अतिशय आग्रह ही आधुनिक नारी के जीवन का चरम ध्येय बन गया है। दिनकर को आधुनिक नारी का यह रूप स्वीकार नही है। दिनकर के विचारो की वाहक सुकन्या आधुनिक नारी को चेतावनी देते हुए कहती है—

"इसीलिए, कहती हू, जब तक हरा-भरा उपवन है,
किसी एक के सग बाध लो तार निखिल जीवन का,
न तो एक दिन वह होगा जब गलित, म्लान अगो पर
क्षण भर को भी किसी पुरुष की दृष्टि नही विरमेगी,
बाहर होगा विजन निकेतन, भीतर प्राण तजेंगे
अन्तर के देवता तृषित भीषण हाहाकारो मे।"[82]

सुकन्या समझ ही नही पाती कि—

'शिखर शिखर उडने मे, जाने, कौन प्रमोद लहर है!
किन्तु, एक तरु से लग सारी आयु बिता देने मे
जो प्रफुल्ल, घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये-नये फूलो पर नित उडती फिरनेवाली को?"[83]

वस्तुत दिनकर को नारी का यह रूप प्रिय नही है। उन्हें तो नारी का वही सती रूप प्रिय है। सुकन्या कहती है—

"एक चारिणी मैं क्या जानू स्वाद विविध भोगो का?
मेरे तो आनन्द-धाम केवल महर्षि भर्ता हैं।

योग-भोग का भेद अप्सरा की अबाध क्रीडा है,
गहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं,
जिससे मिलता भोग, योग भी वही हमे देता है।"[84]

अप्सरा धम बनाम मानवी धर्म

बदलते सामाजिक सदर्भों मे नारी की भूमिका मे भी क्रान्तिकारी परिवतन आया है। शिक्षा के आलोक और समाज म नये नये उभरने वाले साधनो और उनसे जुडी नयी स्थितियो और परिवेश मे तथा समानता के अधिकार के प्रति आग्रह और वैधानिक अधिकारो ने नारी को पहले से अधिक स्वतन्त्र और अपने अधिकारो के प्रति सचेत अधिक साहसी, आत्मविश्वासी और आत्मनिभर बनाया है। पुरुष के लिए त्याग, बलिदान की प्रतिमूर्ति न रहकर अब वह जीवन के प्रत्यक क्रिया कलाप मे पुरुष की समकक्षी बन गयी है। प्रेम और सन्तान के प्रति नारी का दष्टिकोण पुराना, रोमानी, भावुकतापूण तथा त्यागवादी न होकर यथाथवादी, भौतिक, स्थूलरूपी और नयी आकाक्षाओ से प्रेरित हो गया है। पारम्परिक नैतिक तथा वैयक्तिक मूल्यो के विघटनस्वरूप यौन सम्बन्धो मे भी नारी के दष्टिकोण मे परिवतन उपस्थित हुआ है। हम कह आए हैं 'उवशी' की अप्सराए आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। आधुनिक नारी मे अप्सरा पक्ष विशेष रूप से उभर कर आया है। इतिहास साक्षी है जब भी नारी मे अप्सरा पक्ष प्रबल हो उठता है तब वह गभ धारण नही करना चाहती, माता बनकर उत्तरदायित्व का पालन नही करना चाहती, वह पूण रूप स स्वच्छन्द होकर उन्मुक्त जीवन व्यतीत करना चाहती है।

रजनीश का कथन है 'स्त्रियो को सेक्स का पागलपन सवार हो गया है इसीलिए मा नही बनना चाहती, क्योकि मा बनने के बाद सेक्स का रस कम हो जाता है।' सेक्स का रस तभी तक रह सकता है जब तक वह मा न बने।[85] आधुनिक नारी की प्रतीक रम्भा भी यही कहती है—

'और मात पद को पवित्र धरती, यद्यपि, कहती है,
पर माता बनकर नारी क्या क्लेश नही सहती है?
तन हो जाता शिथिल दान मे यौवन गल जाता है,
ममता क रस मे प्राणो का वेग पिघल जाता है।
रुक जाती है राह स्वप्न जग म आने जाने की,
फूलो म उन्मुक्त घूमने की सौरभ पाने की।
मघा मे कामना नही उन्मुक्त खेल करती है,
प्राणा म फिर नही इन्द्रधनुषी उमग भरती है।"[86]

पहले नारी माता बनने म ही अपने जीवन की चरम साथकता मानती थी।

पत्नीत्व और मातृत्व के उत्तरदायित्व का वहन करना ही उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। नारी के मातत्व की वदना करते हुए दिनकर कहते है—

"विना पुत्र नारी का सम्यक रूप नही खुल पाता,
जीवन मे रमणी प्रवेश करती है माता बनकर।'[87]

नीत्से का कथन है "स्त्री एक पहेली है, जिसका हल सतान है।" फेन्ने मातत्व को नारी की सहजवत्ति कहते है। आधुनिक नारी ने इन परम्परागत मान्यताओ को चुनौती दी है। मातृत्व उसके लिए सहजवृत्ति न होकर अनचाहा बोझ बन गया है।[88] मातत्व की गरिमा, मातृत्व का सुख उसके लिए क्लेश का कारण बन गया है। यह अनचाहा बोझ ढोकर, अपनी देह को ढीला करना उसके लिए कोई साथकता नही रखता। रभा कहती है—

"गर्भ-भार उवशी मानवी के समान ढोयेगी?
यह शोभा, यह गठन देह की, यह प्रकान्ति खोयेगी?"[89]

दिनकर को आधुनिक नारी का यह रूप ग्राह्य नही है। आधुनिकाओ की भत्सना करते हुए वे कहते हैं—

"काश! समझती जन्मनिरोधातुर कृत्रिम वन्ध्याएँ,
पुत्र कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।'[90]

बदलते सामाजिक सन्दर्भो मे नारी ने यह महसूस किया है कि वे सारे मूल्यो के नाम पर लगाये गये बन्धन और उत्तरदायित्व व्यथ और अर्थहीन हैं। पुरुष के समान नारी को भी अपने व्यक्तित्व विकास का पूण अधिकार है। अपने व्यक्तित्व विकास के लिए उत्तरोत्तर बढते हुए आग्रह के कारण आधुनिक नारी किसी भी पारिवारिक उत्तरदायित्व का पालन नही करना चाहती। सन्तान उत्पन्न कर अपने सौन्दय की कान्ति, देह का गठन ढीला नही करना चाहती। रभा नारी के मातत्व पर व्यग्य करते हुए कहती है—

"पुत्रवती होगी, शिशु को गोदी मे हलरायेंगी,
मदिर तान को छोड सास से ही लोरी गायेंगी।
पहनेंगी कचुकी क्षीर से क्षण क्षण गीली गीली,
नेह लगायेंगी मनुष्य से, देह करेंगी ढीली।"[91]

डा० वचनदेव कुमार का कथन है 'आज समग्र ससार मे यह फैशन चल गया है कि किशोरिया सतानोत्पत्ति की जहमत से बचना चाहती है। भारत मे भी आधुनिकाओ की सख्या म चक्रवद्धि हो रही है जो अपन रूप के डोरे डालकर दिलफेंक अलमस्ता को फसाना अपना परमधम समझती हैं और गर्भ को हिमालय का बाघ। ये तरह-तरह की गर्भ निरोधक ओषधियो के द्वारा अपना मुक्त विलास वद्धमान रखना चाहती हैं। खुदा न खास्ते यह बला सिर पर आ गयी तो बहुत विचार-विमर्श के बाद जस-तस ढोती हैं। [92]

दिनकर मातत्व की चरम सफलता म ही नारी की पूणता मानते हैं। दिनकर के विचारो के वाहक महर्षि च्यवन नारी के मातत्व की गरिमा का वणन करते हुए कहत हैं—

"सच पूछो तो, प्रजा-सृष्टि मे क्या है भाग पुरुष का ?
यह तो नारी ही है, जो सब यत्न पूण करती है।
सत्व-भार सहती असग, सतति असग जनती है,
और वही शिशु को ले आती मन के उच्च निलय मे,
जहा निरापद, सुखद कक्ष है शशव के झूले का।"93

मेनका भी प्रकारातर से मातत्व की दिव्यता और पवित्रता का वर्णन इसी प्रकार से करती है—

"पर, रम्भे ! क्या कभी बात यह भी मन मे आती है
मा बनते ही त्रिया कहा से कहा पहुच जाती है ?
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर।
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?
युवा जननि को देख शान्ति कैसी मन मे जगती है !
रूपमती भी सखी ! मुझे तो वही त्रिया लगती है,
जो गोदी मे लिये क्षीरमुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खडी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।"94

उवशी के व्यक्तित्व मे निखार तब ही आता है, जब वह मा बनती है। दिनकर ने गमवती नारी की मानसिकता का वणन कितनी स्वच्छता से किया है प्रत्यक गभवती नारी अपने शिशु के लिए यही कल्पना करती है, जैसी कि उवशी करती है—

"यही चाहती थी, समेट कर पी लू सूय किरण को,
विधु की कोमल रश्मि, तारको की पवित्र आभा को,
जिससे ये अपरूप, अमर ज्योतिया गम मे जाकर
समा जायें इसके शोणित मे, हृदय और प्राणो म।
यही सोचती थी, त्रिलोक मे जो भी शुभ, सुन्दर है,
बरस जाय सब एक साथ मेरे अचल मे आकर।
मैं समेट सबको रच दू मुसकान एक पतली सी
और किसी भी भाति उसे जड दू इसके अधरो पर।'95

तब भी केवल भ्रूण वहन और प्रजनन मातत्व नही है। माता तो वही है, जो शिशु का पालन करती है। उवशी पत्नीत्व और मातत्व दोनो का भार वहन करती हैं किन्तु उवशी के लिए ये दोनो रूप साधन भर हैं, साध्य नही। पत्नीत्व से उसे दैहिक मिलन की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है और मातत्व उस

मिलन की अनिवार्य परिणति। दिनकर "उर्वशी काव्य की समाप्ति" मे उर्वशी की रचना प्रक्रिया खोलते हुए आधुनिक नारी पर व्यग्य करते हैं—

"तब भी, सब महिमा खसी नही,
सब त्रिया-जाति उर्वशी नही।
वे भी हैं जिनके बडे हृदय
म मधु से मिला हुआ है पय,
जिनके प्राणा के महाव्योम
मे सग उदित है सूय सोम।
पर, हाय, यही रोती रहती
दायित्व सभी ढोती रहती।
माताए क्लेश उठाती हैं।
उवशिया मौज मनाती हैं।"[96]

मौज मनान के लिए ही उवशी सुर पुर लौट जाती है और मातत्व का समस्त दायित्व सुकन्या और औशीनरी ही सभालती हैं।

प्रकृति न नारी को ही गभ-भार का दायित्व पालन करन के लिए चुना है। माता बनकर अपने दायित्व पालन मे वह पुरुष से पिछड जाती है। इसी कारण वह मातृत्व के दायित्व मे डूबकर जीवन की दौड म पीछे नही होना चाहती।

वस्तुत दिनकर नारी जीवन की साथकता मातृत्व मे ही मानते हैं। गर्भिणी नारी का उन्होने कितना सुन्दर चित्र चित्रित किया है—

"देह कान्ति पीतिमा युक्त गति नही पदो क वश म,
चल लेती है किसी भाति पीवर उस मेघाली-सी
जो समुद्र का जल पीकर मन्थर डगमगा रही हो।

"आकृति ओप विहीन, किन्तु, वह रहित नही भावो से,
फिर भी, कोई रग देर तक ठहर नही पाता है,
विवशा के वश मे, अब ये ऊर्मियां नहीं हो।"[97]

हिन्दी कविता मे कदाचित ही किसी कवि न गर्भिणी नारी का इतना स्वच्छ वणन किया हो, दिनकर कहते हैं—

'निस्सहाय, उदरस्थ भविष्यत के अधीन वह दीना
किस प्रकार रख सके भला अपने वश मे अपने को ?
जो चाहता भविष्य, वक्त्र पर वही भाव आते हैं।
माना, जो से जन्म कभी तुतली वाणी बोलेगा
सगा भेजन वह अज्ञात तुतले सवाल अभी से।
सत्यवती नारी अक्षर पट हैं भविष्य के कर का।'[98]

गर्भिणी की तपस्या की वन्दना करते हुए दिनकर कहते हैं—

'कितनी—मह यातना पालती त्रिया भविष्य जगत् का ?
कह सकता है कौन पूण महिमा इस तपश्चरण का ?"[99]

किन्तु आधुनिक नारी इस तपस्या का अथ समझने से ही इनकार कर रही है। वह सोचती है कि उसका यौवन यदि वह सन्तान उत्पन्न नही करेगी तो कभी विग लित न होगा। सुकन्या इसी सदभ मे कहती है—

"सो, केवल इसलिए कि तुम अप्सरा, सिद्ध नारी हो।
विगलित कभी कहा होता यौवन तुम अप्सरियो का ?
पर, यौवन है मात्र क्षणिक छलना इस मत्य भुवन मे,
ले उसका अवलम्ब मानवी कब तक जी सकती है ?"[100]

मानवी के लिए तो—

जीवन का आनन्द-कोष केवल मधुपूण हृदय है।
हृदय नही त्यागता हम यौवन के तज देने पर,
न तो जीणता के आने पर हृदय जीण होता है।"[101]

मानवी अपने जीवन की चरम साथकता पत्नीत्व और मातत्व के कतव्य-पालन मे ही समझती है। सुकन्या मानवी जीवन की चरम साथकता को प्रस्तुत करते हुए कहती है—

"एक दूसरे क उर म हम ऐसे बस जाते हैं,
दो प्रसून एक ही वन्त पर जसे खिले हुए हो।
फिर रह जाता भेद कहा शिशिर, घाम, पावस का।
एक सग हम युवा, सग ही सग वृद्ध होते हैं।"[102]

इस प्रकार दिनकर ने अप्सराओ के माध्यम से आधुनिक नारी के उन्मुक्त विलास और उत्तरोत्तर बढती हुई स्वच्छन्दता के अतिशय आग्रह को चित्रित किया है।

खडित दाम्पत्य और त्रिकोण

परम्परागत मूल्यो के टूटने की प्रक्रिया ने स्त्री पुरुष क सम्बन्धो को भी अपनी लपेट मे ले लिया है। परम्परागत वैवाहिक सस्था नकारा साबित होने लगी है। प्रेम के प्रति पुराना रूमानी और भावुकतापूण दष्टिकोण अब मान्य नही है। आधु निक बौद्धिक पुरुष उस नारी को अधिक पसन्द करने लगा है, जा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उसकी समकक्षी हो। नारी का सम्पूण समपण, त्याग, निष्ठा अब उसे बाध रखने म असफल सिद्ध हा रहे हैं। 'उर्वशी' मे प्रतिपादित दाम्पत्य का एक कोण है—औशीनरी पुरुरवा और उनका खण्डित दाम्पत्य।

औशीनरी उस परम्परागत नारी का प्रतिनिधित्व करती है, जिसने अपने अप्सरा तत्त्व को उभरने नही दिया है। सती धर्म के प्रबलतम मोह के फलस्वरूप

पति सेवा, त्याग निष्ठा, अशेष समर्पण मे ही वह अपने जीवन की चरम उपलब्धि मानती है। इसी कारण वह अपने दाम्पत्य के खडित होने का कारण नही जान पाती। वह तो यही सोचती है—

"अरी, कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक न कर सकी हू ?
कौन पुष्प है जिसे प्रणय वेदी पर धर न सकी हू ?
प्रभु को दिया नही, ऐसा तो पास न कोई धन है।
न्योछावर आराध्य-चरण पर सखि ! तन, मन, जीवन है।"[103]

पत्नीत्व की सार्थकता को समझते हुए भी औशीनरी पति को बाधे रखने की कला से अनभिज्ञ है।

"सब कुछ है उपलब्ध, एक सुख वही नही मिलता है,
जिससे नारी के अन्तर का मान पद्म खिलता है।
वह सुख जो उन्मुक्त बरस पडता उस अवलोकन से,
देख रहा हो नारी को जब नर मधु मत्त नयन से।"[104]

वस्तुत नर नारी सम्बन्ध का केवल सामाजिक सन्दर्भ ही नही होता जिसके कारण वे परस्पर बधे रहने के लिए बाध्य हो। नर-नारी सम्बन्ध का एक अन्य पक्ष भी है, वह है उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष। दाम्पत्य की सफलता के लिए आवश्यक है नारी, पुरुष की मनोवैज्ञानिकता से पूर्णत परिचित हो। औशीनरी पुरुरवा की मनोवैज्ञानिकता से अपरिचित है, यही औशीनरी पुरुरवा के [illegible] खडित होने का मूल कारण है। पुरुरवा का उद्दाम पौरुष और तेज [illegible] सघर्षों से जूझने के लिए प्रेरित करते है, सन्तोष उसकी प्रकृति नहीं है। [illegible] के कोलाहल से घिरे रहने के कारण और सघर्षों से क्लान्त होने पर [illegible] वक्ष की गर्माहट म विश्राम पाना चाहता है—

"सघर्षों से श्रमित श्रान्त हो पुरुष खोजता विह्वल
सिर धर कर सोने को, क्षण भर, नारी का [illegible]।
आखो मे जब अश्रु उमडते, पुरुष चाहता [illegible],
और विपद मे रमणी के अगो का गाढ़ालिंगन [illegible]

जो पुरुष जितना ही पराक्रमी होता है, उतना ही [illegible] नारी के आकर्षण से खिंच जाता है—

"प्रकृति कोप से जो जितना ही [illegible],
वह उतना ही अनायास [illegible]।
अगम, अगाध वीर नर जो [illegible]
बडी सहजता से जय [illegible]।"[105]

पुरुष सदैव दूरी के रोमास को [illegible]। जो नारी उसे [illegible] होती है, पुरुष की दृष्टि में उस नारी का [illegible] जाता है। [illegible]

"प्रेमिका के बहुमूल्य होने का विश्वास उसे प्राप्त करने की कठिनाई के मनोवज्ञानिक प्रभाव के कारण है। मेरा विचार है कि जिस पुरुष को स्त्री की प्राप्ति म कोई कठिनाई नही होती, उस स्त्री के प्रति उसकी भावना रोमेटिक प्रेम का रूप धारण नही करती।"[107] इसी सन्दर्भ मे दिनकर भी कहते हैं—

"करस्पर्श से दूर, स्वप्न झलमल नर को भाता है,
छककर जिसको पी न सका, वह जल नर को भाता है।
ग्रीवा मे झूलत कुसुम पर प्रीति नही जगती है,
जो पद पर चढ गयी, चादनी फीकी वह लगती है।"[108]

औशीनरी पद पर चढी हुई चादनी ही है, औशीनरी को प्राप्त करने मे पुरुरवा को कोई प्रयास नही करना पडा। उनका दाम्पत्य सम्बन्ध परम्परागत वैवाहिक सस्था का प्रतिफलन है, जबकि उवशी को प्राप्त करने मे पुरुरवा को कठिनाइयों का सामना करना पडा। उवशी पुररवा का प्रणय रोमाटिक प्रेम से ही फलीभूत हुआ है। इसलिए औशीनरी की तुलना मे पुरुरवा की दृष्टि मे उवशी का मूल्य अधिक है। पुरुरवा उवशी को प्राप्त करने की कठिनाई को व्यक्त करते हुए कहता है—

'प्राणो की मणि! अयि मनोज मोहिनी! दुरन्त विरह मे
नहो झेलता रहा वेदनाए क्या-क्या दुस्सह मैं ?
दिवा रात्रि उनिद्र पलो मे तेरा ध्यान सजोकर
काट दिये आतप, वर्षा, हिमकाल सतत रो रोकर।
विदा प्रतिमा, वह दृष्टि न भूली कभी एक क्षण मन से।'[109]

पुरुरवा रोमाटिक पुरुष है। रोमाटिक पुरुष नित नवीनता का आग्रही होता है। नैरन्तय उसमे ऊब उत्पन्न करता है। दिनकर का कथन है "पुरुष मे नवीनता की प्यास होती है, खतरा और विरोधो से टकराने की इच्छा होती है और इन तपाओ के शमन के उपाय घर म उपलब्ध नही होते। एकात उसके मन मे ऊब उपजाता है और एक ही प्रकार का बधा जीवन उसे 'बोर' कर देता है।'[110] पुरुरवा भी औशीनरी के एकरसीय व्यवहार से ऊब चुका है। औशीनरी का यन्त्रवत जड व्यक्तित्व पुरुरवा को बाध नही पाता। फलत वह नई हरियालियों की ओर आकृष्ट होता है। रसेल का कथन है "जिन सभ्य लोगो म रूढ निषेध न हो उनम, चाहे वे पुरुष हो या स्त्रिया साधारणतया बहुविवाह की प्रवृत्ति रहती है। सभव है कि वे प्रेम म डूब जायें और कुछ वष तक एक ही व्यक्ति के प्रति आसक्त रहें परन्तु कभी न कभी सेक्स सम्बन्ध घनिष्ठता से ऊब जाने के कारण काम-वासना मन्द पड जाती है और तब वे पुरानी पुलक की खोज मे औरो की ओर देखने लगते हैं।'[111] मदनिका पुरुष की इसी प्रवृत्ति की ओर सकेत करते हुए कहती है—

"उस पर भी नर की प्रवृत्ति है क्षण क्षण अकुलाने की,
नयी-नयी प्रतिमाओ का नित नया प्यार पाने की।
वश मे आयी हुई वस्तु से इसको तोष नही है,
जीत लिया जिसको, उससे आगे सतोष नही है।
नयी सिद्धि हित नित्य नया सघर्ष चाहता है नर,
नया स्वाद, नव जय, नित नूतन हृप चाहता है नर।"[112]

किन्तु औशीनरी पुरुष की इसी प्रवृत्ति को जान नही पाती। अशेष समपण को ही वह दाम्पत्य की केन्द्रीय घुरी मानती है। पति की सहगामिनी नही, अपितु दासी बनने मे ही जीवन की सार्थकता समझती है। जहा पति नारी का एकमात्र आधार हो, वहा नारी का अप्सरा तत्त्व उभर नही पाता। अन्त मे औशीनरी अपने व्यक्तित्व की इसी कमी को महसूसते हुए कहती है—

"गयी नही क्यो सग सग मैं धरणी और गगन मे
जहा-जहा प्रिय को महान घटनाए बुला रही थी?
अकित थे कर रहे प्राणपति जब आख्यान विजय का
पण पण पर, लहर लहर मे, उन्नत शिखर शिखर पर,
समा गयी क्यो नही, हाय, तब मैं जीवन्त प्रभा सी
बाणो के फलको, कृशानु की लोहित रेखाओ मे?"[113]

पुरुरवा रोमाटिक पुरुष है और रोमाटिक पुरुष उसी नारी की ओर जाना चाहता है जो सभी नारियो म छिपी विचित्रता का सार हो। जो एक बार ही सम्पूर्ण समर्पित होने से कतराती हो, जो पुरुष मे आकाक्षा तो जगाती हो किन्तु उसे तृप्त करने से भागती हो, शय्या पर होकर भी पूर्ण रूप से वहा न होती हो। रसेल का कथन है "रोमाटिक प्रेम मे प्रेम-पात्र सच्चे रूप मे दिखाई नही पडता, बल्कि सौन्दर्य के कुहासे मे से दीखता है। इसमे सन्देह नही कि एक विशेष प्रकार की स्त्री यदि उसे विशेष प्रकार का पति मिल जाये तो, विवाह के बाद भी वह उस कुहासे मे लिपटी रहेगी।"[114] दिनकर भी लगभग यही बात कहते हैं—

'क्षण क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर फिर जो चुम्बन लेकर,
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षुधित अक मे देकर,
जो सपने के सदृश बाहु मे उडी उडी आती हो,
और लहर सी लौट तिमिर मे डूब डूब जाती हो,
प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस मे,
पुरुष बडे सुख से रहता उस प्रमदा के बस मे।'[115]

रसेल का कथन है कि नारी को वैवाहिक जीवन को सफल बनाये रखने के लिए पुरुष से अप्सरावत् गोपनीयता बरतनी चाहिए। न केवल विचारो और भावनाओ से ही अपितु एक सीमा तक अपने अग की नग्नता को भी पति की दृष्टि से बचाए

रखना चाहिए। किन्तु औशीनरी यही कला नही समझती। समझती वह तब है जब समझना कोई अथ नहीं रखता। अपनी पराजय पर पश्चात्ताप करती हुई वह कहती है—

"गृहिणी जाती हार दाव सपूण समपण करके,
जयिनी रहती बनी अप्सरा ललक पुरुष म भरके।
पर, क्या जाने ललक जगाना नर म गृहिणी नारी ?
जीत गयी अप्सरा, सखी ! मैं रानी बनकर हारी।"[116]

अपनी पराजय का बोध, अपनी भूल का अहसास होते ही औशीनरी की व्यथा की सीमा नही रह जाती। तब ही वह समझ पाती है कि वह पुरुरवा को वह भावमय आहार नही दे पायी, जिसकी उसे आवश्यकता थी—

"हाय सती ! मैं ही कदय दोषी, अनुदार, कृपण हू,
केवल शुभ कामना, मगलपया से क्या होना है ?
मैं ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
जिसकी उन्हें अपार क्षुधा, उतनी आवश्यकता थी।"[117]

पछताती हुई वह कहती है—

"जीत गयी वे जो लहरो पर मचल मचल चलती थीं,
उड सकती थी खुली धूप म, मेघों-भरे गगन मे।
हारी मैं इसलिए कि मेरे व्रीडा-विकल दृगों मे।
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गडती थी।"[118]

अत औशीनरी पुरुरवा के दाम्पत्य के खडित होने के मूल मे दिनकर यही प्रस्थापित करना चाहते हैं कि नारी का सती रूप आदश होते हुए भी दाम्पत्य की सफलता के लिए नारी को अपना अप्सरा रूप भी उभार कर रखना चाहिए, जिससे पुरुष नई हरियालियो की ओर आकृष्ट न हो। डॉ० विजेन्द्र नारायणसिंह का कथन है कि—"दिनकर ने औशीनरी के दाम्पत्य की असफलता का अच्छा विश्लेषण किया है। उन्होंने परम्पराभुक्त ढग से भारतीय नारी के साथ सहानुभूति प्रकट कर पाठक की भावना को 'एक्सप्लायट' नही किया है। यही काम 'एक्सप्लायटेशन' गुप्तजी ने 'यशोधरा' म किया है। गुप्तजी न तो केवल भारतीय नारी के करुण रूप का चित्रण किया है। आचल मे दूध आखो मे खारा पानी फाड डालता है, यह तो ठीक है। किन्तु वे कौन से कारण हैं, जिनसे इस देश के हट्टे-कट्टे नवयुवक असमय ही सन्यास ग्रहण करते रहे, गुप्तजी उसका विश्लेषण न कर सके। यह वैज्ञानिक दृष्टि उनके पास नहा थी। यह काय कदाचित् पहली बार हिन्दी कविता म दिनकर ने किया है।"[119]

'उवशी' मे प्रतिपादित नर-नारी सम्बन्ध का दूसरा कोण है—उवशी पुरुरवा का सम्बन्ध। उवशी आधुनिक युग की बौद्धिक नारी है, जो परम्परा से

चले आए नैतिक-बोध को चुनौती देती है। औशीनरी की अपेक्षा वह अधिक साहसी और आत्मविश्वासी है। औशीनरी का व्यक्तित्व इतना दबा हुआ है कि अपना सवस्व खो जाने पर भी वह केवल विलाप करती रह जाती है। उसे प्राप्त करने का प्रयास तक नही करती। उवशी के व्यक्तित्व मे एक सहज निर्भीकता है पुरुष के लिए त्याग-बलिदान की प्रतिमूर्ति ही न रहकर वह जीवन के सभी क्षेत्रो मे पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने की आकाक्षी है। औशीनरी के लिए पति उसका आधार मात्र है, जबकि उवशी पति का ज्ञान-गुरु, सखा, मित्र, सहचर मानती है। उवशी ऐसी नारी है, जो अपनी अगयष्टि से ही पुरुष को आकृष्ट नही करती, अपितु अपने व्यक्तित्व से भी पुरुष को बाध रखने मे समथ होती है। पुरुरवा उवशी मे अपनी कल्पना का साकार रूप पाता है। पुरुरवा कहता है—

"एक मूर्त्ति मे सिमट गयी किस भाति सिद्धिया सारी ?
कब था ज्ञात मुझे इतनी सुन्दर होती है नारी ?"[120]

उवशी को पाकर पुरुरवा सोचता है, यही वह नारी है, जिसके साथ जन्म-जन्मान्तरो से उसका सम्बन्ध था। पुरुरवा कहता है—

"जहा जहा तुम खिली, स्यात, मैं ही मलयानिल बनकर
तुम्हें घेरता आया हूँ अपनी आकुल बाहो से।
जिसके भी सामने किया तुमने कुचित अधरो को,
लगता है, मैं ही सर्देव वह चुम्बन-रसिक पुरुष था।"[121]

औशीनरी का व्यक्तित्व जहा अपने-आप मे सिमटा हुआ है, वही उवशी के व्यक्तित्व मे एक सहज खुलापन है। उसमे कही कोई द्विधा नही है। जीवन के रस को छककर भोगने की वह आकाक्षी है। वह रस लेती और देती है। औशीनरी के समान वह केवल देने मे विश्वास नही रखती। केलि के निबिडतम क्षणो मे वह कितने उन्मुक्त भाव से खो जाती है, पुरुरवा से वह कहती है—

पर, मैं बाधक नहीं, जहा भी रहो, भूमि, या नभ मे,
वक्षस्थल पर, इसी भाति, मेरा कपोल रहने दो।
कसे रहो, बस, इसी भाति, उस पीडक आलिंगन मे
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से।
किन्तु आह! यो नही, तनिक तो शिथिल करो बाहो को,
निष्पेषित मत करो, यदपि, इस मधु निष्पेषण मे भी
मर्मान्तक है शान्ति और आनन्द एक दारुण है।"[122]

उवशी का निरन्तर गतिशील व्यक्तित्व पुरुष मे भी स्फूर्ति व ताजगी को भर देता है। विस्मित होकर पुरुरवा कहता है—

"जब से हम-तुम मिले, रूप के अगम, फुल्ल कानन मे

अनिमिष मेरी दष्टि किसी विस्मय मे डूब गयी है,
अथ नही सूभता मुझे अपनी ही विकल गिरा का,
शब्दो से बनती है जो मूर्तिया, तुम्हारे दग से
उठनेवाले धीर-ज्वार मे गलकर खो जाती है।
खडा सिहरता रहता मैं आनन्द विकल उस तरु सा,
जिसकी डाला पर प्रसन्न गिलहरिया किलक रही हो,
या पत्तो मे छिपी हुई कोयन कूजन करती हो।"[123]

उवशी का आक्रामक और वेबाक व्यक्तित्व पुरुष को वधे रहने के लिए बाध्य करता है। डॉ० विजेन्द्रनारायणसिह ठीक ही लिखते हैं, "उवशी रूपसी है, सुकुमार है, मादक है, तन्वगी है, पर उसमे शौय और साहस भी है। इसीलिए जीवन की लडाई वह जीत जाती है। यही दिनकर की कल्पना की मरदानी औरत है। इस दृष्टि से दिनकर की उवशी अप्रतिम है।" कितने साहस से वह कहती है—

"पढो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का,
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी।"[124]

उवशी पुरुरवा का सम्बन्ध रोमाटिक प्रेम का प्रतिफलन है। उवशी पुरुष की मनोवज्ञानिकता से पूणत परिचित है। सहज खुलापन होते हुए भी पुरुष से अप्सरावत गोपनीयता रखने की कला मे वह पारगत है। पुरुरवा से वह कहती है—

"और जहा भी मिलन देखते हो प्रकाश छाया का,
वही निरापद बिन्दु मनुज मन का आश्रय शीतल है।
सघन कुज गाधूलि, चादनी ये नही रहे तो
दिन की खुली धूप म कब तक जीवन चल सकता है ?"[125]

पुरुरवा जानकर भी उवशी को जान नही पाता, सौन्दय के रस को पीकर भी उसके अधर प्यासे ही रह जाते हैं। उवशी का रहस्यमय व्यक्तित्व खुलकर भी रहस्य मे ही लिपटा रहता है। पुरुरवा कहता है—

"आवेशित उद्गार ! यही मर्मो का उन्घाटन है ?
हुआ स्रस्त कितना रहस्यमय अवगुठन माया का ?
पर, रहस्य हट जाने पर भी रही रहस्यमयी तुम,
मायावरण दूर कर दने पर भी तुम माया हो।"[126]

अत उवशी पुरुरवा का सम्बन्ध मात्र रूपवती देह की चाह का प्रतिफलन ही नही है, अपितु वह एक व्यक्तित्व द्वारा दूसरे व्यक्तित्व की पूणता है। उवशी ही वह नारी है, जिसके लिए पुरुरवा का व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। वही उसकी सहयोगिनी बनकर उसके व्यक्तित्व को साथकता और चरितायता देती है। उर्वशी के स्वग लौट जाने के बाद पुरुरवा फिर किसी अन्य नारी की आर आकृष्ट नही

हाला, यहाँ तक कि औशीनरी की ओर भी नही। वह सन्यास लेकर चल देता है। दिनकर को नारी से सहानुभूति अवश्य है, इसीलिए दिनकर औशीनरी की वेदना को वाणी तो देते हैं किन्तु जिस दाम्पत्य की नीव अटूट और नित नवीन प्रेम पर न टिकी हो, जहा हृदय से हृदय का मिलन न हो अपितु सम्बन्ध को ढाने की मजबूरी हो, वह सम्बन्ध दिनकर को ग्राह्य नही है।

'उवशी' म प्रतिपादित दाम्पत्य का तीसरा कोण सुकन्या और च्यवन का है। *सुकन्या को तप की सिद्धि के रूप मे महर्षि च्यवन ने ग्रहण किया था।* अपने तप के बल पर उन्होने पुन यौवन धारण कर सुकन्या को वरण किया था। च्यवन इसी सदम मे सुकन्या से कहते है—

"डरो नही, यह तपोभग च्युति नही, सिद्धि मेरी है।
पहले भी जब हुआ पूण कटु तप महर्षि कदम का,
स्वग नही ऋषि न वर मे नारी मनोज्ञ मागी थी।
सो तुम सम्मुख खडी तपस्या के फल की आभा सी,
अब होगा क्या अपर स्वर्ग जिसका सन्धान करू मैं ?
हरि प्रसन्न यदि नही, सिद्धि बनकर तुम क्यो आयी हो ?"[127]

नारीत्व की इससे बढकर वन्दना और क्या हो सकती है ? प्राचीन नैतिकता मे जहा नारी पाप की प्रतिमा मानी जाती थी, वही दिनकर ने नारी को तप सिद्धि का पर्याय बतलाकर असीम सम्मान दिया है। चित्रलेखा कहती है—

"च्यवन पूज्य सारी वसुधा के, पर असख्य ललनाएँ
उन्हे देखती हैं अपार श्रद्धा, असीम गौरव से।
नारी को पयाय बताकर तप सिद्धि भूमा का,
सचमुच, त्रिया जाति को ऋषि ने अद्‌भुत मान दिया है।"[128]

यह प्रशस्ति सुन सुकन्या का तन मन मुकुलित हो उठता है, हृदय में असख्य कलिया खिल उठती हैं। उसके नारीत्व को नयी अथवत्ता प्राप्त होती है। पहली बार प्रणय के मधुर रस मे वह आकठ डूब जाती है—

"लगा मुझे सवत्र देह की पपरी टूट रही है
निकल रही हैं त्वचा तोडकर दीपित, नयी त्वचाए,
चला आ रहा फूट अतुल से कुछ मधु की धारा सा,
हरियाली से मैं प्रसन्न आकठ भरी जाती हू।"[129]

सुकन्या-च्यवन का सम्बन्ध रोमाटिक प्रेम से प्रतिफलित हुआ है। पहली बार सुकन्या को देखते ही च्यवन का हृदय आन्दोलित हो उठता है। अकस्मात् वे कह उठते हैं—

"कहा मिला यह रूप, देखते ही जिसको पावक की
दाहकता मिट गयी, स्थाणु मे पत्ते निकल रहे हैं।"[130]

रसेल का कथन है, "रोमांटिक प्रेम-जीवन के सर्वोत्तम उल्लास का स्रोत है। स्त्री-पुरुष एक दूसरे को प्रेम करते हो और उस प्रेम की उत्कटता, कल्पना और कोमलता हो, तो उसका अमूल्य महत्त्व है।"[131] सुकन्या च्यवन का सम्बन्ध इसी धुरी पर केन्द्रित है। उनका प्रेम मात्र शारीरिक धरातल पर टिका न होकर मन और आत्मा को भी स्पन्दित कर देता है। सुकन्या उसी मन स्थिति को व्यक्त करते हुए कहती है—

"सचमुच ही, फूटते स्पर्श से पत्र अपत्र द्रुमों मे,
धरती जहां चरण, ऊसर मे फूल निकल आते हैं।"[132]

सुकन्या पुरुष की मनोवृत्ति मे अधिक परिचित है। वह जानती है कि पुरुष का दुदमनीय तेज चट्टानो और पर्वतो से तो टक्कर ले सकता है, किन्तु अपने मन की तरग और तृष्णा के सम्मुख पराजित हो जाता है। बाहरी अवरोधो का वह डट कर मुकाबला करता है, किन्तु अपने भीतर मे व्याप्त शत्रु से वह हार जाता है। सुकन्या पुरुष की इसी प्रवृत्ति की ओर सकेत करते हुए कहती है—

"पर के फेंके पाश से पुरुष नहा डरता है,
वह अवश्य ही, काट फेंकता उसे बाहु के बल से।
पर, फस जाता जभी वीर अपनी निर्मित उलझन में,
निकल भागने की उसको तब राह नहीं मिलती है।"[133]

इसीलिए गृहस्थ नारी का दायित्व है कि वह क्षण क्षण सजग होकर पुरुष के भीतर की व्यथा और पीडा को समझे। उसके हृदय की प्रत्येक चोट पर प्रेम का मलहम रखे। सुकन्या कहती है—

"इसीलिए दायित्व गहन, दुस्तर गृहस्थ नारी का।
क्षण-क्षण सजग, अनिद्र दृष्टि देखना उसे होता है,
अभी कहा है व्यथा ? समर मे लौटे हुए पुरुष को
कहा लगी है प्यास, प्राण मे काटे कहा चुभे हैं।"[134]

अत सुकन्या औशीनरी की अपक्षा गृहस्थ नारी के दायित्व को भलीभांति समझती है। औशीनरी के दाम्पत्य के खडित होने के कारण की ओर सकेत करते हुए सुकन्या कहती है—

"बुरा किया यदि शुभे ! आपने देखा नहीं, नृपति के
कहां घाव थे कहा जलन थी, कहा मम पीडा थी ?"[135]

दिनकर भूमिका म लिखते हैं प्रश्नो के उत्तर रोगो के समाधान मनुष्यो के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दद को जानती है, केवल बेचनी को जानती है।' किन्तु उवशी' मे उन्होंने औशीनरी की व्यथा और उसके दाम्पत्य के खडित होने की समस्या को प्रस्तुत करने के साथ सुकन्या और च्यवन के सामजस्यपूर्ण गार्हस्थ्य जीवन को प्रस्तुत कर रोग का समाधान भी प्रस्तुत कर दिया है।

(

4

काम की आधुनिक समस्याए

दिनकर की काव्य चेतना सदैव समाज की समस्याओ से जूझती रही है। समाज की प्रत्येक समस्या उनकी सवेदना मे सपृक्त हुए बिना नही रह सकी है। उवशी मे प्रतिपादित काम की समस्याए वस्तुत आधुनिक मनुष्य की समस्याए हैं। आधुनिक मनुष्य हृदय से कम और बुद्धि से अधिक परिचालित है। बुद्धि के प्रति अतिशय आग्रह ने उसके सम्मुख कई समस्याओ को प्रस्तुत कर दिया है। इन समस्याओ से टूटता बिखरता वह सदव तनाव और द्वद्वो से ग्रस्त रहता है। आज के मानव की प्रमुख समस्या काम की समस्या है। काम के प्रति परम्परागत नैतिक बोध से वह पूणत मुक्त नही हो पाया है। काम के प्रति पाप-बोध की अवधारणा से उसका मन आज भी ग्रसित है। पुरुरवा के मन मे काम के प्रति यही ग्रथि विद्यमान है पुरुरवा कहता है—

'आग है कोई नही जो शात होती,
और खुलकर खेलने से भी निरतर भागती है।"136

आधुनिक मनुष्य जैव धरातल पर काम को भोगना चाहता है, कितु प्राचीन नतिकता के परकोटे से बधा रहने के कारण वह काम को सहज रूप स ग्रहण करने से भागता है।

"चाहिये देवत्व,
पर, इस आग को धर दू कहा पर ?
कामनाओ को विसर्जित व्योम मे कर दू कहा पर ?"137

काम से मुक्त होने के प्रयास मे आधुनिक मनुष्य काम मे और भी अधिक जकड गया है। काम का सहज माग अवरुद्ध होने से काम विकृत होकर वह निकला है। वस्तुत हम जिस चीज से बचना चाहते है हमारी चेतना उसी पर केंद्रित हो जाती है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। काम की निंदा और विरोध करने स ही आधुनिक मनुष्य कामुक हो गया है। हमारा समस्त साहित्य इसी कामुकता का प्रदशन कर रहा है। हमारी पोशाकें हमारे हाव भाव, हमारी फिल्में इसी कामुकता को प्रमाणित कर रही हैं। हम जिसे जीवन मे सहज ढग से अपनाने से कतरा रहे है जिसे बुरा समझकर विरोध कर रहे हैं हमारे अवचेतन मे ... ।

अपनी जड जमाकर बैठ गया है। काम का यह कुत्सित रूप काम के प्रति शत्रुता रखने के फलस्वरूप ही उत्पन्न हुआ है। रजनीश लिखते है, "मनुष्य की काम की ऊर्जा को समझा जाय फिर उसे रूपान्तरित करने के प्रयोग किये जा सकते हैं। बिना उस ऊर्जा को समझे दमन की, सयम की सारी शिक्षा मनुष्य को पागल, विक्षिप्त और रुग्ण करेगी। "यह मनुष्य इतना रुग्ण, इतना दीन-हीन कभी नहीं था, इतना विषाक्त भी नहीं था, इतना पायजण्ड' भी नहीं था, इतना दुखी भी न था।"[138] आधुनिक मनुष्य काम के प्रति इतना पागल क्यो है, इसके मूल मे काम का दमन है। काम जब नैसर्गिक रूप से सचालित नहीं होता, तब वह जहर बन जाता है, उसका निवास मन मे हो जाता है। आधुनिक बौद्धिक मनुष्य का काम उसके शरीर तक ही सीमित नहीं है, वरन वह उसके दिमाग पर भी हावी हो गया है। एक किसान जो खेतो मे हल जोतता है, दिनभर मेहनत करता है, वह आधुनिक युग के बौद्धिक मनुष्य की अपेक्षा काम से अधिक मुक्त है, क्योकि काम उसके शरीर मे ही रहता है, मन म नहीं। वह काम का अहर्निश चिन्तन नहीं करता, किन्तु आज का बुद्धिजीवी दिनभर काम के विषय मे सोचता रहता है, जबकि वास्तविकता यह है कि काम उनम रहता नहीं। लारेन्स ने दिमागी सेक्स की बडी निन्दा की है। यह शब्द उसी का आविष्कार है। यह दोष उसने बुद्धिजीवियो मे देखा है। उसने इसे समकालीन चिन्तन और सस्कृति के लेखको, कलाकारो और नताओ का बबर ससार कहा है। उसका कहना है, सेक्स से जितना पीडित ये लोग हैं, उतना समाज का कोई भी वग नहीं। उसका कहना है कि इन लोगो मे सक्स इनके गणित से भी अधिक मानसिक है और उनके शरीर की प्राणवत्ता प्रेतो की तुलना मे भी नहीं के बराबर है। लारेन्स इस प्रवत्ति को आत्मा के विरुद्ध किया गया पाप कहता है।[139]

आधुनिक मनुष्य तनावो और द्वन्द्वो मे जी रहा है। जीवन विषयक परम्परा गत धारणा टूट रही है और नयी धारणाओ को वह गढ नहीं पा रहा है। आधुनिक दृष्टि का वरदान उसके लिए भीषण सकट का अभिशाप बन गया है। आज के व्यक्ति की सवेदन क्षमता ही जैसे खो गई है। हर तरफ वह स्वय को अकेला महसूस कर रहा है। ऐसे समय मे सेक्स के क्षणो मे ही उसे कुछ सुख की अनुभूति हो पाती है। काम के क्षणो मे ही वह आत्मविस्मत हो पाता है। उसका अह कुछ क्षणो के लिए विलीन हो जाता है इसीलिए वह इस क्रिया को बार बार दुहराना चाहता है और दिमाग म भी उन्ही सुखो की स्मति ढोता रहता है। उवशी कहती है—

> 'मन जब हो आसक्त काम के लभ्य अनेक सुखो पर,
> चिन्तन मे भी उन्ही सुखा की स्मति ढोये फिरता है,
> विकल, व्यग्र, फिर-फिर, मधु सर मे अवगाहन करने को।"[140]

"अत हमारी खोज आत्म विस्मृति की खोज है, कुछ मे डूब जाना है, जिसमे हम अपने को खो सकें। चूंकि अहं क्षुद्र है और दुख का मूल है, अत चेतन या अचेतन रूप से हम व्यक्ति या समूह की उत्तेजना मे अपने को खो देना चाहते हैं। अधिकांशतया दुष्ट मनोवेगो की वैयक्तिक परिणति मे हम आत्मविस्मृति का उपाय पाते हैं। सेक्स सृजन से रहित जीवन का एक मात्र निकास रह जाता है। चूंकि हम प्रेम नही करते हैं इसलिए सेक्स हमे घुला घुलाकर मारनेवाला मीठा जहर बन गया है।"[141] प्रेम के बिना सेक्स पाप है। आज का व्यक्ति प्रेम का दावा तो करता है, किन्तु वस्तुत वह प्रेम करता नही। वह छल से, बल से किसी भी यत्न से उस सुख को प्राप्त करता है, इसीलिए काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते हैं। दो शरीर मिलते हैं, किन्तु मन और आत्मा हाहाकार करते हैं—

"स्नेहाकृष्ट नही, तो यत्ना से, छल से, बल से भी
तभी काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते हैं,
तभी काम दुद्धर्ष, दानवी किल्विश बन जाता है।
काम-कृत्य वे सभी दुष्ट हैं, जिनके सम्पादन मे
मन-आत्माएं नहीं, मात्र दो वपुस मिला करते हैं,
या तन जहां विरुद्ध प्रकृति के विवश किया जाता है
सुख पाने को, क्षुधा नही, केवल मन की लिप्सा से।"[142]

वस्तुत काम की प्रकृति को मनुष्य ने समझा नही है। आज तक समझने का प्रयास तक नही किया है। सदव सेक्स को गाली ही दी है। उसे घृणित समझकर बलपूर्वक जीवन से निष्कासित करने की चेष्टा की है। किन्तु काम हमारे जीवन से निकला नही है, अपितु हमारे मन के भीतर बहुत अतिशय होकर बैठा है। हमारी समस्त चेतना काम से आक्रान्त है। हम अहर्निश काम का चिन्तन करते रहते हैं। दिनकर कहते हैं, "काम तन मे रहता ही है, कभी कभी उसका निवास मन मे भी हो जाता है। तन का काम स्वाभाविक प्रवृत्ति, किन्तु मन का काम रोग है। यह भी कि तन के काम की आवश्यकता सीमित होती है किन्तु मन का काम निस्सीम होता है। तन का काम अपनी आवश्यकता से आगे नही बढता, किन्तु मन का काम उसका केवल अतिक्रमण ही नही करता, वह नकली आवश्यकताओं को भी जन्म देता है। तन का काम वस मे लाया जा सकता है किन्तु मन का काम काल्पनिक होने के कारण पकड मे नही आता।"[143] उर्वशी भी प्रकारान्तर से यही बात कहती है—

'तन का क्या अपराध ? यन्त्र वह तो सुकुमार प्रकृति का,
सीमित उसकी शक्ति और सीमित आवश्यकता है।
यह तो मन ही है, निवास जिसमे समस्त विपदो का
वही व्यग्र, व्याकुल असीम अपनी काल्पनिक क्षुधा से

हाक हाक तन को उस जल को मलिन बना देता है,
बिम्बित होती किरण अगोचर की जिस स्वच्छ सलिल मे,
जिस पवित्र जल मे समाधि के सहस्रार खिलते हैं।"[144]

प्रेम से फलित काम केवल शरीर के तल तक ही नही रुकता वरन वह आत्मा की गहराइयो को भी छू लेता है। तन का अतिक्रमण कर लेता है, जैसे दो लहरें मिलकर एक दूसरे का अतिक्रमण कर लेती हैं। आधुनिक नर-नारी उस सहज आकपण से नही मिलते, उनका मिलन प्रेम के सहजावेग से फलीभूत नही होता, अपितु जैसे तस्कर छिपकर स्वण का सधान करता है, वैसे ही छिपकर, भय से ग्रसित होकर वे मन की लिप्सा का शमन करने के लिए मिलते हैं—

'जहा नही मिलते नर-नारी उस सहजाकपण से
जैसे दो वीचिया अनामन्त्रित आ मिल जाती हैं,
पर, सुवण की लोलुपता मे छिप-छिपे तस्कर-से
एक दूसरे का आकुल सन्धान किया करते हैं।"[145]

यही छिपाव यही भय कामुकता को जन्म देता है। सेक्स को दिमाग मे घुस जाने के लिए मजबूर कर देता है। काम की समस्या ने आज हमारे समाज को रोगी बना दिया है। वस्तुत प्रेम के अभाव मे ही काम समस्या बन जाता है, प्रेम के अभाव मे ही मन नई हरियालियो की ओर आकृष्ट होता है।

'वश मे आयी हुई वस्तु से इसको तोष नही है।
जीत लिया जिसको, उससे आगे सन्तोष नही है।[146]

× × ×

ग्रीवा मे झूलते कुसुम पर प्रीति नही जगती है
जो पद पर चढ गयी चादनी फीकी वह लगती है।"[147]

हमारे आधुनिक समाज मे बहुगामिता की समस्या के केन्द्र मे यही प्रेम का अभाव है, प्रेम के अभाव मे काम केवल शारीरिक कृत्य हो जाता है। वह शरीर का अतिक्रमण कर आन्दोलित नही करता।

काम को पाप समझने के फलस्वरूप ही नर-नारी उस सहजावेग से मिल नहीं पाते। वे तप्त नही हो पाते। जो स्त्री पुरुष सेक्स से घृणा करते होंगे, उनके बीच प्रेम कैसे हो पायेगा और जहा प्रेम न होगा वहा उनके सम्बन्धो मे एकनिष्ठता भी स्थापित नही हो सकती। इसी सदभ मे रजनीश कहते हैं, जो पति अपनी पत्नी और अपने बीच एक दीवार पाता हो, वह पत्नी से कभी तृप्ति अनुभव नही कर पाता। वह आस पास की स्त्रियो को खोजता है वेश्याओ को खोजता है। खोजेगा। अगर पत्नी से उसे तृप्ति मिल गई होती तो शायद इस जगत की सारी स्त्रिया उसके लिए मा और बहन हो जाती, लेकिन पत्नी से तृप्ति न मिलने के कारण सारी स्त्रिया उसे पोटेन्शियल पत्नियो की तरह मालूम पडती हैं जिनको

कि पत्नी मे बदला जा सकता है।"[148] पुरुरवा को औशीनरी से तृप्ति न मिल सकी, क्योकि तब वह काम को पाप समझता था। औशीनरी-पुरुरवा का सम्बन्ध प्रेम से फलीभूत नही था, इसीलिए उस सम्बन्ध मे एकनिष्ठता नही रह सकी। पुरुरवा-उर्वशी का सम्बन्ध प्रेम से परिचालित होने के कारण शरीर का अतिक्रमण कर आत्मा की गहराइयो को छू लेता है। इसीलिए पुरुरवा उर्वशी को पाकर तृप्त हो जाता है, फिर वह कही भटकता नही।

'उर्वशी' के कवि ने प्राचीन मिथक को लिया अवश्य है, किन्तु उसके परिप्रेक्ष्य मे दिनकर ने आधुनिक युग की समस्याओ को उद्घाटित किया है। जिस प्रकार अप्सराए आधुनिक आभिजात्य वर्ग की नारी का प्रतिनिधित्व करती है, उसी प्रकार से देवता आभिजात्य वर्ग के पुरुष का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे समाज का आभिजात्य वर्ग का पुरुष अत्यधिक विलास मे डूबा हुआ है। विलास मे डूबे रहने के कारण उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो चुकी है, किन्तु फिर भी उसका मन अतृप्त है। मन की यह अतृप्ति काम को भोगने के लिए उत्तेजित तो करती है, किन्तु उसकी यह विडम्बना है कि वह उस स्वाद को भोगने म असमर्थ रहता है। फलत वह आखो से, गन्ध से, श्रवण से ही उस सुख को पाने के लिए लालायित रहता है। उर्वशी आधुनिक पुरुष की इसी वृत्ति पर आक्षेप करते हुए कहती है—

"शमित वह्नि ये शीत-प्राण पीते सौन्दर्य नयन से,
घ्राण मात्र लेते, न कुसुम का अग कभी छूते हैं।'[149]

'उर्वशी' का कवि देवताओ के माध्यम से आभिजात्य वर्ग के पुरुष की इसी वृत्ति पर गुणीभूत व्यग्य करता है। पुसत्वहीनता की यह समस्या समाज के इस वर्ग मे आज एक भयकर रोग की तरह फैली हुई है। चित्रलेखा आधुनिक पुरुष की इस कुत्सित वृत्ति पर कटाक्ष करते हुए कहती है—

"सरल मानवी क्या जानो तुम कुटिल रूप देवो का ?
भस्म समूहो के भीतर, चिनगिया अभी जीती हैं।
सिद्ध हुए, पर सतत चारिणी तरी मीनकेतन की
अब भी मन्द-मन्द चलती है श्रमित रक्त धारा मे।"[150]

इस समस्या के केन्द्र मे भी प्रेम का अभाव ही है। जहा नर-नारी का सम्बन्ध प्रेम की आधार शिला पर टिका रहता है, वहा ऐसी समस्याए उत्पन्न ही नही हो सकती। मन और आत्मा प्रेम से ही तृप्त हो सकते हैं और जब तक मन और आत्मा तृप्त नही हैं तभी तक मनुष्य भटकता है और इस भटकने की प्रक्रिया मे वह विलास मे डूब जाता है, अहर्निश काम का चिन्तन करता है। जिससे उसका तन तो शिथिल हो जाता है, किन्तु मन की ज्वाला धधकती रहती है। मन की लिप्सा का शमन करने के लिए वह गध, श्रवण और नयनो का आधार लेता है।

इसी सदर्भ मे दिनकर कहते हैं —

"सहे मुक्त प्रहरण अनग का, दव कहा वह तन मे ?
विबुध पचशर के बाणो को मानस पर लेते हैं।
वश मे नही सुरो के प्रशमन सहज, स्वच्छ पावक का
ये भोगते पवित्र भोग औरो मे वह्नि जगाकर।"[151]

मेनका इस वग की विडम्बना को यो व्यक्त करती है—

"हम भी कितने विवश ! गध पीकर ही रह जाते हैं,
स्वाद व्यजनो का न कभी, रसना से ले पाते हैं।
हो जाते हैं तप्त पान कर स्वर माधुरी श्रवण से,
रूप भोगते है मन से या तृष्णा-भरे नयन से।
पर, जब कोई ज्वार रूप को देख उमड आता है,
किसी अनिवचनीय क्षुधा मे जीवन पड जाता है।
उस पीडा से बचने की तब राह नही मिलती है,
उठती जो वेदना यहा, खुल कर न कभी खिलती है।
किन्तु, मत्य जीवन पर ऐसा कोई बन्ध नही है,
रुके गन्ध तक, वहा प्रेम पर यह प्रतिब ध नही है।"[152]

आधुनिक युग म गभ निरोधक यन्त्रो के आविष्कार से भी काम की समस्या मे वृद्धि हुई है। आधुनिक नर-नारी मुक्त प्रणय के आकाक्षी हैं। आज काम का ध्येय सतानोत्पादन नही रहा है अपितु आधुनिक नर नारी यौन-सुख का ही महत्वपूण मान बैठे हैं। गभ निरोधक यन्त्रो के आविष्कार से गभ रह जान का भय भी समाप्त हो गया है। इसीलिए आधुनिक नर-नारी उन्मुक्त होकर काम का सुख भोगना चाहते हैं। आधुनिक नारी की प्रतीक रभा कहती है—

'सच है कभी कभी तन से भी मिलती रागमयी हम,
मनक रग मे नर को रग ऐसी अनुरागमयी हम,
देती मुक्त उडेल अधर मधु ताप तप्त अधरो मे,
सुख से देती छोड कनक-कलशो को उष्ण करो मे,
पर यह तो रसमय विनोद है, भावो का खिलना है।
तन की उद्वेलित तरग पर प्राणो का मिलना है।"[153]

आधुनिक नारी यह सोचती है कि माता बनने से सेक्स का सुख कम हो जाता है। इसी सन्दभ मे रजनीश का कथन है "जिन स्त्रियो को सेक्स का पागलपन सवार हो गया है जसे पश्चिम मे, वह इसीलिए मा नही बनना चाहती क्योंकि माँ बनने के बाद सेक्स का रस कम हो जाता है।'[154] इसीलिए रभा कहती है—

"और मातपद को पवित्र धरती, यद्यपि, कहती है,
पर, माता बनकर नारी क्या क्लेश नही सहती है ?

तन हो जाता शिथिल, दान मे यौवन गल जाता है
ममता के रस मे प्राणो का वेग पिघल जाता है
रुक जाती है राह स्वप्न जग मे आने जाने की
फूलो मे उन्मुक्त घूमन की, सौरभ पाने की
मधा मे कामना नही उन्मुक्त खेला करती है
प्राणो मे फिर नही इन्द्रधनुषी उमग भरती है।' 155

अत 'उर्वशी' मे प्रतिपादित काम की समस्याएँ आधुनिक युग की समस्याए हैं।

काम और अध्यात्म

मनुष्य के प्रत्येक क्रिया-कलाप के केन्द्र मे काम प्रमुख भूमिका निर्वाह करता है। काम वस्तुत मनुष्य की ऊर्जा का स्रोत है। मनुष्य के भीतर की कोई प्रवत्ति ऐसी नही है, जो काम से प्रभावित न होती हो। काम वस्तुत राग का पर्याय है। राग से प्रेरित होकर ही हमारे जीवन के समस्त काय घटित होते हैं। प्राचीन नतिकता इसी राग का विरोध करती रही। धम का निवृत्तिमार्गी रूप इसी अदमनीय शक्ति का बलात् दमन करने की शिक्षा देता रहा। काम को दुराचार और सौन्दय को पाप की सज्ञा देता रहा। धम के भीतर यही केन्द्रीय विचारधारा पनपी हुई थी कि जो नर-नारी एक दूसरे को जान लेते हैं, उनकी मुक्ति का माग अवरुद्ध हो जाता है। अध्यात्म की भूमि पर वे कभी प्रवेश नही कर सकते। इसलिए सवत्र यही सिद्धान्त प्रतिपादित हो चुका था कि "पुरुष के लिए अच्छा तो यही है कि वह स्त्री का स्पश न करे।" गाधी जी हो या गौतम बुद्ध, महावीर हो, अथवा सेण्ट पाल सभी विचारको की यही धारणा थी कि "जो चीज मुक्ति मे सहायक नही है, उसे मैं अनावश्यक मानता हू। विवाह भी ऐसा ही अनावश्यक कृत्य है। मुक्ति से दूर होने के कारण मनुष्य को जन्म लेना पडता है और जब वह मुक्ति से और भी अधिक दूर होता है तब वह विवाह करता है।" अत काम चाहे विवाह के घेरे मे ही घटित क्यो न हुआ हो मुक्ति के माग का सबसे बडा रोडा माना जाता था।

जो नर नारी काम के प्रति पाप बोध की अवधारणा से ग्रसित होगे, वे कभी एक दूसरे से उन्मुक्त भाव से प्रेम नही कर सकते। वस्तुत काम का ही विकसित रूप प्रेम है। पुरुरवा के मन मे काम के प्रति यही पाप बाध ग्रन्थि विद्यमान थी, इसीलिए औशीनरी को वह प्रेम न कर सका। जो नर नारी एक दूसरे से प्रेम न कर सके जो कि अत्यन्त सहज और नैसर्गिक है, वे ईश्वर स प्रेम क्या कर पायेंगे ? रजनीश लिखते हैं, "धम ने मनुष्य के जीवन से प्रेम के सारे द्वार बन्द कर दिये, प्रेम को जहरीला कर दिया।"156 पुरुरवा भी काम की दिव्य शक्ति को न पहचान कर उसे मुक्ति मे बाधा मानता है। उसकी समस्त द्विधा के केन्द्र मे यही अवधारणा है। इसी कारण जीवन के रस को वह उन्मुक्त होकर भोग नही पाता।

"रूप का रसमय निमन्त्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि
मुझको शान्ति से जीने न देती।
हर घड़ी कहती, उठो,
इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ो,
पान कर लो यह सुधा मैं शान्त हूंगी,
अब नहीं आगे कभी उद्भ्रान्त हूंगी।
किन्तु, रस के पात्र को ज्यों ही लगाता हूं अधर को,
घूंट या दो घूंट पीते ही
न जाने, किस अतल से नाद यह आता,
अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।"

और फिर

"टूट गिरती हैं उमंगें,
बाहुओं का पाश हो जाता शिथिल है।"[157]

पुरुरवा की इस विकलता के परिप्रेक्ष्य में सेक्स के प्रति उसकी दुश्मनी है। पुरुरवा ने सेक्स की प्रकृति को समझा नहीं है। यदि वह काम की ऊर्जा को समझ पाता तो उसकी सारी द्विधा ही समाप्त हो जाती। उर्वशी इसी ओर संकेत करते हुए कहती है—

"राग विराग दुष्ट दोनों, दोनों निसर्ग द्रोही हैं।
एक चेतना को अजुष्ट संकोचन सिखलाता है
और दूसरा प्रिय, अभीष्ट सुख की अभिप्रेत दिशा में,
कहता है बल-सहित भावना को प्रसारित होने को
दोनों विषम, शान्ति समता के दोनों ही बाधक हैं,
दोनों से निश्चिन्त चेतना को अभंग बहने दो।
करने दो सब कृत्य उसे निर्लिप्त सभी से होकर,
लोभ भीति, मघष और यम, नियम संयमों से भी।"[158]

वस्तुतः काम से मैत्री स्थापित करने से ही मनुष्य काम से मुक्त हो सकता है। काम की ऊर्जा को समझकर ही उसकी शक्ति को रूपान्तरित कर सकता है। किन्तु आज तक हमने काम की प्रकृति को समझने की चेष्टा नहीं की। काम की शक्ति को न समझने के कारण ही हम कामुक हो गये हैं। हमारी सारी चेतना काम पर केन्द्रित हो गई है। इसी संदर्भ में रजनीश कहते हैं, "आदमी के भीतर जहर इकट्ठा हो गया है और उसके इकट्ठे हो जाने का पहला सूत्र यह है कि हमने

आदमी के निसर्ग को, उसकी प्रकृति को स्वीकार नही किया। उसकी प्रकृति को दबाने और जबरदस्ती तोडने की चेष्टा की। मनुष्य के भीतर जो हो सकता है उस शक्ति को रूपान्तरित करने का, ऊचा ले जाने का आकाशगामी बनाने का, हमने कोई प्रयास नही किया।"[159] अपितु हम पुरुरवा की भाति यही सोचते रहते हैं—

"हाय, तृष्णा फिर वही तरगो मे गाहन करने की।
वही लोभ चेतना सिन्धु के अपर-पार जाने का
झप मार तन की प्रतप्त, उफनाती हुई लहर मे
ठहर सकेगा कभी नही क्या प्रणय शून्य अबर पर।"[160]

वस्तुत काम से मुक्त हम तब ही हो सकते हैं, जब हम उसे दिव्य मानें, पवित्र मानें। जब हम उसका प्रतिरोध करना छोड दें, उसे जीवन में सहज रूप से स्वीकार करें। उर्वशी काम के प्रति इसी भ्राति का निराकरण यो करती है—

"भ्राति नही, अनुभूति, जिसे ईश्वर हम सब कहते है,
शत्रु प्रकृति का नही, न उसका प्रतियोगी, प्रतिबल है।
किसने कहा तुम्हें, परमेश्वर और प्रकृति, मे दोनो
साथ नही रहते, जिसको भी ईश्वर तक जाना है,
उसे तोड लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से,
और प्रकृति के रस मे जिसका अन्तर रमा हुआ है
उसे और जो मिले, किन्तु, परमेश्वर नही मिलेगा ?"[161]

अत काम के प्रति गहरी समझ से ही हम काम से मुक्त हो सकते हैं। काम की ऊर्जा को रूपान्तरित कर राम की ओर मोड सकते है। "अत काम वासना के प्रति प्रखर जागरण से ही शनै -शनै ब्रह्मचय का जन्म होने लगता है। इस प्रकार अधकार से प्रकाश की ओर यात्रा आरभ होती है। काम को पूरी तरह समझकर ही काम से मुक्त हुआ जा सकता है। काम से मुक्ति ही ब्रह्मचय है।"[162]

काम के क्षणो मे हमारा मन विचारो से शून्य हो जाता है। हमारे अहकार का विसर्जन होता है। काम म जो हमे सुख की अनुभूति होती है, वह हमारी अह के विलय के कारण ही होती है। पुरुरवा जसे दुधष व्यक्ति का अह ऐसे क्षणो मे विसर्जित हो जाता है—

"मैं तुम्हारे बाण का बीधा हुआ खग,
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हू।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला-कमल हू
प्राण के सर मे उतरना चाहता हू।"[163]

परमात्मा से मिलने के लिए भी पहली शर्त अह का विसजन है। अह का विसजन होने पर ही हम देना सीखते हैं। जब तक अह है, तब तक हम केवल लेना चाहते

हैं। सभोग के क्षणो मे ही हम कुछ देते हैं। लारेंस का कथन है कि ऐसे क्षणों मे कुछ नया हमारे भीतर प्रवेश करता है और कुछ पुराना चल देता है। काम हमें स्फूर्ति और ताजगी से भर देता है। उवशी उन्ही क्षणो के आनन्द को बड़े कवित्व मय ढग से यो व्यक्त करती है—

"उफ री यह माधुरी! और ये अधर विकच फूलो से
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते हैं
रोम-कूप, जानें, भर जाते किन पीयूष कणो से।
और सिमटते ही कठोर बाहो के आलिगन मे,
चटुल एक पर एक उष्ण ऊर्मिया तुम्हारे तन की
मुझमे कर सक्रमण प्राण उन्मत्त बना देती हैं।
कुसुमायित पवत-समान तब लगी तुम्हारे तन से
मैं पुलकित विह्वल, प्रसन्न मूच्छित होने लगती हू।"[164]

"स्त्री और पुरुष के मिलन से किसी नई शक्ति का सचार होता है। स्त्री का शरीर और पुरुष का शरीर विद्युत की भाषा मे ऋणात्मक और धनात्मक शरीर है। पुरुष का प्रथम भौतिक शरीर धनात्मक होता है। नर के वह्नि रस से स्त्री का सिचन होता है और स्त्री के रज से पुरुष अभिसिंचित होता है। सभोग का गहन अनुभव जीवन को नया क्षितिज, नया परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।"[165] इसी सम्भोग के अनुभव को विकसित किया जा सकता है। ऐन्द्रिय से अतीन्द्रिय के धरातल पर पहुचाया जा सकता है, बशर्ते कि हम काम को पाप न समझें। इसी-लिए रजनीश कहते है कि "यदि हम प्राथनापूण हृदय से और अत्यन्त पवित्रता से सेक्स के पास जायें तो हम परमात्मा की इस झलक को सहज ही अनुभव कर सकते ह।"[166] उवशी कहती है—

'विधि निषेध से मुक्त, न तो पीडित सचेष्ट भजन से
न तो प्राण को बल समेत, बरबस, उस ओर लगाये
जिस दिशा से जीवन मे सुख धारा फूटा करती है।
जब इन्द्रिया और मन ऐसी सहज, शान्त मुद्रा मे
वातायन खोले चिन्ता से रहित पडे होते है,
तभी किरण निष्कलुप मोद की स्वय उतर आती है
रवि की किरणो के समान, अम्बर से, खुले भवन मे।"[16]

वस्तुत काम का सुख यौन सुख न होकर हमारे ठीक सेक्स सेंटर के पास हमारे जीवन की ऊर्जा का कुड है, जिसे कुडलिनी कहा जाता है। काम का सुख इसी कुडलिनी मे आये हुए कम्पन का सुख है। रजनीश लिखते हैं "काम से, सेक्स से जो थोडा-सा सुख मिलता है, वह सुख भी यौन के साथ वह जो कुड है, हमारी जीवन ऊर्जा का उसमे आये हुए कम्पन का सुख है।"[169] अत काम,पाप नही है।

वह पूजा की तरह पवित्र है। काम और धम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। काम से यात्रा प्रारम्भ करके ही हम राम तक पहुच सकते हैं। डॉ० विजेन्द्र नारायण सिंह लिखते हैं, "काम की गंगोत्री ही राम के महानद तक पहुचती है। यात्रा काम की होती है, उपलब्धि राम की होती है। काम के बिना इस प्राथमिक सोपान के बिना, राम को भी नही पाया जा सकता।"[169] दिनकर कहते हैं —

"तुम अशेष सुन्दर हो, पर, हो कोर मात्र ही केवल
उस विराट छवि की, जो घन के नीचे अभी दबी है।
अतिक्रमण इसलिये कि इन जलदो का पटल हटाकर
देख सकू मधुकान्तिमान् सारा सौन्दय तुम्हारा।"[170]

अत काम को ही उदात्तीकृत कर अध्यात्म तक पहुचा जा सकता है। दिनकर भूमिका में लिखते हैं, "काम की ये जो निराकार झकृतिया हैं, वे ही उदात्तीकरण के सूक्ष्म सोपान है। त्वचाए, स्पश के द्वारा, सुन्दरता का जो परिचय प्राप्त करती हैं, वह अधूरा और अपूण होता है, पूणता पर वह तब पहुचता है, जब हम सौंदय के निदिध्यासन अथवा समाधि मे होते हैं।" हमारी आध्यात्मिक यात्रा मूलाधार चक्र से प्रारभ होकर सहस्रार तक है। मूलाधार चक्र की प्राथमिक प्राकृतिक सम्भावना काम वासना है, जो हमे प्रकृति से प्राप्त होती है, वह भौतिक शरीर की केन्द्रीय वासना है। इसीको समझकर रूपान्तरित करके सहस्रार तक पहुचना है। इसी सदभ मे रजनीश लिखते है "मैं सम्भोग और समाधि को बडी समतुल बातें मानता हू। असल मे वे ही दो समतुल घटनाए हैं और कोई घटना समतुल नही है। सम्भोग की स्थिति मे हम ब्रिज के एक छोर पर होते हैं, सीढी के नीचेवाले हिस्से पर होते हैं जहा से हम प्रकृति से मिलते हैं और समाधि मे हम सीढी के दूसरे छोर पर होते हैं, जहा हम परमात्मा से मिलते हैं। दोनो मिलन है, दोनो विस्फोट है एक अर्थ मे, दोनो मे किसी खास अथ में तुम खोते हो। सम्भोग मे क्षण भर के लिये और समाधि मे सदा के लिए।"[171]

"जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय मे,
नर-नारी मिलते समाधि सुख के निश्चेत शिखर पर,
तब प्रहष की अति से यो ही प्रकृति काप उठती है।
और फूल यो ही प्रसन्न होकर हसने लगते हैं।'[172]

अत मनुष्य की काम भावना केवल शरीर को ही नही मन और आत्मा को भी आन्दोलित करती है। काम जब मन और आत्मा के धरातल पर पहुचता है, तब उसके भीतर रहस्यपूण अर्थों का समावेश होने लगता है। उर्वशी उन्हीं क्षणो को महसूसते हुए कहती है—

"जला जा रहा अथ सत्य का सपनो की ज्वाला मे,
निराकार मे आकारों की पृथ्वी डूब रही है।

यह कैसी माधुरी ? कौन स्वर लय मे गूज रहा है
त्वचा जाल पर, रक्त शिराओ मे, अकूल अन्तर मे ?
ये ऊर्मिया ! अशब्द नाद। उफ री बेबसी गिरा की।
दोगे कोई शब्द ? कहू क्या कहकर इस महिमा को ?"[173]

अत काम एक धार्मिक कृत्य है। वह पूजा की तरह पवित्र है। काम अध्यात्म का विरोधी नही, अपितु यह तो वह बिन्दु है, जहा से अध्यात्म तक पहुचने की यात्रा प्रारम्भ होती है। काम का गहरा अनुभव ही हमे उस ऊचाई तक ले जाता है, जहा काम मात्र शरीर तक नही रुकता वरन शरीर और मन के तल को पार कर आत्मा के तल पर, जो काम का आध्यात्मिक तल है, पहुचता है। उवशी उस स्थिति का वणन यो करती है—

"प्रकृति नित्य आनन्दमयी है जब भी भूल स्वय को
हम निसग के किसी रूप (नारी, नर या फूलो) से
एक तान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल मे
खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है
दैहिक जग को छोड कही हम और पहुच जाते हैं,
मानो मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।'[174]

अत प्राचीन नैतिकता जहा काम को दुराचार की और सौन्दय को पाप की सज्ञा देती रही, वही दिनकर काम को अध्यात्म तक पहुचने का साधन मानते हैं। पुरुरवा की द्विधा प्राचीन नैतिकता के परकोटे से बधे व्यक्ति की द्विधा है, जो काम को राम का प्रबल शत्रु मानता है, जबकि महर्षि च्यवन के भीतर कोई द्वद्व नही है। काम उनकी तपस्या म बाधक नही है। चित्रलेखा कहती है—

"यही गव मुझको भी—
हो आता है अनायास उन तेजवन्त पुरुषो पर
बाधक नही तपोव्रत जिनके व्यग्र-उदग्र प्रणय का,
न तो प्रेम ही विघ्न डालता जिनके तपश्चरण म,
प्रणय, पाश मे बधे हुए भी जो निमग्न मानस से
उसी महासुख की चोटी पर चढे हुए रहते हैं
जहा योग योगी को, कवि को कविता ले जाती है।
और निरजन की समाधि स उन्मीलित होने पर
जिनके दृग दूपते नही अजनवाली आखो को।"[175]

अत दिनकर काम और अध्यात्म को परस्पर विरोधी न मानकर मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का साधन मानते हैं।

उपसंहार

'उर्वशी' के सामाजिक संदर्भ के प्रमुख आयाम ये हैं—

उर्वशी प्राचीन आख्यान पर लिखी गयी एक प्रेम-कथा है, किन्तु उसका संदर्भ आधुनिक है। कवि दिनकर भारतीय नवोत्थान की कोख से पैदा हुए और उस नवोत्थान को उन्होंने अपनी कविता से पूर्णता की ओर ढकेला। 'उर्वशी' उसी पूर्णता के प्रयत्न में कवि दिनकर की काव्य-साधना का चूडान्त निदर्शन है। भारतीय नवोत्थान की पहली लहर में ही निष्क्रिय संन्यास को तिरस्कृत करते हुए कर्मठ गार्हस्थ्य का संदेश स्वामी विवेकानन्द ने दिया था। उन्होंने एक जगह कहा कि गीता पढ़ने की अपेक्षा फुटबॉल खेलना कहीं अधिक श्रेयस्कर है और अन्यत्र उन्होंने निष्प्रयोजन ब्रह्मचर्य की भर्त्सना करते हुए कहा कि चिड़िया दाना चुगती है तो वह संतान उत्पन्न करती है और हम तो अन्न ब्रह्म की उपासना करनेवाले साकार मनुष्य हैं। विवेकानन्द स्वयं संन्यासी थे, किन्तु कर्मठ गार्हस्थ्य का परित्याग कर निष्क्रिय संन्यासी की उपासना करनेवाली भारतीय परम्परा से वे परिचित थे और इसी परम्परा को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। निवृत्ति के निष्क्रिय दर्शन की अपेक्षा प्रवृत्ति के कर्मठ जीवन को उन्होंने श्रेयस्कर माना। मध्यकालीन कवि चंडीदास की तरह वे भी यह अच्छी तरह मानते थे कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं, मनुष्य झूठ बोलता है, व्यभिचार करता है, गाय झूठ नहीं बोलती है, वृक्ष व्यभिचार नहीं करते हैं, किन्तु गाय और वृक्ष मनुष्य से श्रेष्ठ नहीं हो जायेंगे। कर्म नदी को पार करनेवाले पुरुष के वस्त्र वैतरणी की धारा में थोड़ा भीगते ही हैं ये तो कर्म के दाग हैं। संसार सौन्दर्य है, उससे भागना अपराध है। इसी नवोत्थान की प्रवृत्तिमुखी धारा से सिक्त होकर उर्वशी के सामाजिक संदर्भ पुष्ट और सबल हुए हैं। निष्क्रिय संन्यास और भ्रान्तिपूर्ण जीवन-दर्शन की भर्त्सना करती हुई उर्वशी कहती है—

"पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी।।
छली बुद्धि की भांति, जहां सुख-दुख से भरे भुवन में,
पाप सीखता वहां, जहां सुन्दरता हुलस रही है
और पुण्य चय वहां जहां कंकाल कुलिश काटे हैं।"[176]

किसी और हिन्दी कवि ने इतनी दृढ़ता के साथ पुराने जीवन दर्शन पर ऐसा

आक्रामक प्रहार किया हो, यह हमे नही मालूम। 'उवशी' का रचयिता पुराने विचारको की तरह नर-नारी के सम्ब ध को पाप नही मानता है। ससार को देखने और जानने के पाच ही माध्यम हैं मनुष्य के पास, और ये पाच हैं उसकी ज्ञानेन्द्रिया श्रवण, नासिका, चक्षु, त्वचा और जिह्वा। श्रवण, चक्षु और नासिका के द्वारा प्रेम का अतीन्द्रिय रूप प्रकट होता है, उसे 'प्लैटोनिक लव' भी कहा जाता है। कि तु प्रेम का मानवीय रूप तो जिह्वा और त्वचा के धरातल पर ही प्रकट होता है और यदि प्रेम जिह्वा और त्वचा के धरातल पर मनुष्य मे प्रकट होता है तो यह प्रकृति है। 'उवशी' का रचयिता यह मानता है कि प्रकृति परमेश्वर के लिए बाधक नही है। नर और नारी यदि सचमुच एक दूसरे को जान लेते है तो परम सत्ता का ज्ञान अलभ्य नही बन जाता है। यथा—

'किसने कहा तुम्हे, जो नारी-नर को जान चुकी है,
उसके लिये अलभ्य नान हो गया परम-सत्ता का
पुरुष जो आलिगन मे बाध चुका रमणी को,
देश काल को भेद गगन मे उठने योग्य नही है।"[177]

चि तन की लहरो के ही समान रुधिर और त्वचा मे भी आरोहण के सोपान लगे हैं। दशन की लहर जहा हमे ले जाती है, सौ दय की लहर भी प्रकारा तर से वही ले जाती है।

"चि तन की लहरो के समान सौ दय लहर मे भी है बल,
साती अम्बर तक उडता है रूपसी नारी का स्वर्गांचल।
जिस मधुर भूमिका मे जन को दशन तरग पहुचाती है
उस दिव्य लोक तक हमे प्रेम की नाव सहज ले जाती है।"[1 8]

और जैसा कि डॉ० विजे द्रनारायण सिह ने लिखा है कि "चुम्बन और चि तन एक ही समुद्र तक पहुचकर रीत जानेवाली नदियो के नाम हैं।" नवोत्थान के इसी प्रवृत्तिमार्गी जीवन दशन ने 'उवशी' के कवि को पुरानी नतिकता पर प्रहार करने का ऐसा प्रखर सामर्थ्य दिया है।

इस जीवन दशन की कई आनुषगिक विशेषताए हैं, एक तो यह कि हृदय का राग बुद्धि तत्त्व की अपेक्षा श्रेष्ठतर चीज है। जीवन चूकि सौ दय है, जीवन चूकि आकषण है, इसलिए रुधिर बुद्धि से अधिक बली वस्तु है। रुधिर की पुकार जहा होती है, वहा हृदय के रक्त बि दु रचना की ओर उ मुख होते हैं और बुद्धि मे रचना का कोई सामर्थ्य ही नही होता। रचना का सम्ब ध कमठ गाहस्थ्य से है और बुद्धि का निष्क्रिय पलायन से। इसलिए उवशी कहती है—

"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी।
क्योंकि बुद्धि सोचती है और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितिया निष्प्राण हुआ करती हैं,

चित्र और प्रतिमा इनमे जो जीवन लहराता है,
वह सूझो से नही पत्र पाषाणो मे आया है,
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से ।"[179]

और इसी जीवन दर्शन से लगे हुए कवि माया की भी समीक्षा कर देता है। पुराने दार्शनिक शकराचार्य ने कहा कि प्रकृति माया है, दिनकर उल्टी बात कहते हैं, वे कहते हैं कि माया वह भ्रमित बुद्धि है जो एक ओर सृजन का सदेश देती है और दूसरी ओर त्याग की बात करती है—

"प्रकृति नही माया, माया है नाम भ्रमित उस धी का,
बीचोबीच सर्प सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है,
एक जीभ से जो कहती कुछ सुख अर्जित करने को,
और दूसरे से बाकी का वजन सिखलाती है ।"[180]

इस प्रकार 'उर्वशी' का रचयिता वन्ध्या बुद्धिवाद की बडी ही तल्ख समीक्षा प्रस्तुत करता है और उसे सम्पूर्णतया तिरस्कृत कर देता है ।

बुद्धि यदि सपूर्णत तिरस्कृत हो जाए तो बचता है केवल हृदय और हृदय का मुख्य आकर्षण धावित होता है रमणी के सौदर्य की ओर। 'उर्वशी' की नारी भावना की यह तर्कसगत परिणति है । कवि इसलिए सन्धान करता है कि तपस्या और प्रेम क्या सचमुच ही इनमे कोई सम्बन्ध नही है ? क्या हृदय का रस आग मे जला देने के योग्य है ? क्या स्पर्श के समय देह से टूटनेवाली पपरिया पाप हैं ? क्या कोमल त्वचा के राग परमात्मा की ओर ले जानेवाली पगडडिया नही हैं ? उर्वशी के रचयिता को ऐसा लगता है कि वह आलिगन अधकार नही है, जो हम प्रकाश के महासिन्धु मे फेंक देता है ।

"वह आलिगन अधकार है, जिसमे बध जाने पर
हम प्रकाश के महासिंधु मे उतराने लगते हैं ?
और कहोगे तिमिर शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जडता की ग्रन्थिया तन-मन की खुल जाती हैं ?"[181]

इन्द्रिया के माध्यम से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही उर्वशी का कामाध्यात्म है। यह कामाध्यात्म नर नारी सम्बन्ध की गहनता से उत्पन्न हुआ है ।

उर्वशी के इस प्रेम दर्शन का सामाजिक सदर्भ क्या है ? इस शताब्दी में पुरुष नारी को केवल ऊपर से ही पाता रहा है और नारी भी रवीन्द्रनाथ की भाषा में मात्र विनोदिनी बनकर रह गयी है। वह पुरुष म केवल वासना की लहर और रुधिर का उत्ताप जगाना जानती है । वह तितली है, मारजारी है किन्तु नारी नही है। दिनकर ने पहले इस नारी को आधुनिक कहा था और उर्वशी मे इसीको अप्सरा कहते हैं। इस आधुनिका के मिथ्या व रनस की भर्त्सना करते हुए बहुत पहले उन्होंने 'रसवन्ती' मे लिखा था—

"दातो तले अधर को दावे, कसे उवलते मन को
चलती हो ऐसी कि, देखती हो ज्यो नही किसी को
लेकिन सबको बचा काम करनेवाले वे लोचन
कहते हैं तुम विन देखे देखा करती बहुतो को
तुम्हे घ्यान रहता कि पीठ सहलाती कितनी आखें।
बधे चले आते कितने मन छल की भी लटो से।
मन स्पश करती बहुतो का, बलखाती चलती हो
मन ही मन गिनती हो लोहू काप गया कितने का ?"[182]

और यह प्रेम नही व्यभिचार है। नर-नारी यदि सचमुच एक दूसरे से प्रेम करते हो तो भटकते नही। लेकिन हमारी शताब्दी मे मन एक हरियाली से दूसरी हरियाली की ओर जाता ही रहता है। प्रेम की समस्या इसी सदर्भ मे उत्पन्न हुई।

इस शताब्दी मे पुरुष और नारी एक आयामी हो गये हैं। वे ऊपर-ऊपर से भरे-भरे दीखते हैं कि तु भीतर से रिक्त और खोखले हैं। पुरुष का चुम्बन नारी की त्वचा को भेदकर उसकी अ तरात्मा को छू नही पाता और नारी का समपण पुरुष के खून मे केवल आग लगा देता है, किन्तु उसकी आत्मा मे कोई ज्वाला नही फूटती है। दोनो एक-दूसरे की जड देख तो पाते हैं और कामायनीकार की भाषा मे सौन्दय जलधि से केवल अपना गरल पात्र भरकर ले आते हैं। नर और नारी के प्रेम की साथकता और चरितार्थता इस बात मे निहित है कि वे एक दूसरे को पूणता प्रदान करें। नर-नारी पूण जैविक इकाइया हैं और ये एक दूसरे को पूणत तब पा सकते हैं जब अ तरात्मा की गहराइयो मे उतर जाए। अ तरात्मा की गहराइयो मे उतरने का ही नाम प्रेम है। नर-नारी सम्बन्ध की इस पूणता की व्याख्या करते हुए उवशी की भूमिका मे दिनकर ने लिखा है कि "नारी के भीतर एक और नारी है यह अगोचर और इन्द्रियातीत है और इस नारी का सन्धान पुरुष तब पाता है जब वह शरीर की धारा को उछालते उछालते मन के दुगम समुद्र मे फेंक देता है। जब वह दैहिक चेतना के परे प्रेम की दुगम समाधि मे पहुचता है।" 'उवशी' के रचयिता का लक्ष्य इसी दुगम समाधिवाले प्रेम की खोज है। उवशी इसलिए काम्य है कि औशीनरी पुररवा को ऐसा उदवेग नही दे सकी। नारी की देह भित्तिपरक है, प्रकृति ने जो अद्भुत चित्रकारी की है वह निष्प्रयोजन नही है उससे पुरुष रीझता है। प्रेम, जैसा कि दिनकर ने कहा है, पहले फिजिक्स है और तब मेटा फिजिक्स है। नारी का अप्सरा बन जाना निधन और हेय है। कि तु अप्सरा तत्त्व को दबा देना और भी बडा अपराध है। औशीनरी ने अपने अप्सरा तत्त्व को दबा दिया था। केवल धुम-कामना और मगलैषा से पुरुष को मिलेगा ही क्या ? वह पुरुरवा की प्रेरणा का उत्स नहीं बन सकी, इसलिए पुरुरवा उवशी की ओर

आकृष्ट होता है । यही वह वाछित नारी है, पुरुरवा जिसकी खोज जन्म जन्मान्तर की यात्राओ मे कर रहा था—

> "जहा जहा तुम खिलो, स्यात मैं ही मलयानल बनकर
> तुम्हें घेरता आया हू आकुल अपनी बाहों से ।
> जिसके भी सामने किया तुमने कुचित अधरो को,
> लगता है, मैं ही वह चुम्बन रसिक पुरुष था । '[183]

उर्वशी को पाकर पुरुरवा की सारी वासनाए विराम पा गई, इसी को प्रेम कहते हैं । प्रेम यानी नर जब कई हरियालियो की ओर आख उठाना निष्प्रयोजन समझता है । नारी के पक्ष से इसी को सतीत्व कहते हैं । यह प्रेम तब तक उत्पन्न नही होता, जब तक नारी नर को और नर नारी को सपूर्णत न पा जाय । सेक्स नर-नारी को सपूर्णत पाने का एक माग है किन्तु यह माग तब तक नही रीतता है जब तक कि त्वचा के परे तक के लोक का दर्शन न हो जाय । इस लम्बी यात्रा का जहा अन्त होता है, वही प्रेम की प्राप्ति हो जाती है । औशीनरी ऐसी परम्परामुक्त भारतीय नारी है, जो सेक्स की उपयोगिता का समझती ही नही, प्रेम की उपयोगिता वह समझती क्या खाक ? दिनकर को इस सती नारी के पराभव पर क्लेश है किन्तु उनकी काम्य नारी उर्वशी है ।

आधुनिक मनुष्य विशेषकर भारतीय मनुष्य की प्रेम परक समस्याओ पर मनन करते हुए 'उर्वशी' की रचना हुई है । कवि ने कथा तो त्रेता युग की उठाई है । किन्तु समस्याए उसके अपने युग की हैं । प्राचीन कथा को उठाना गढ़े मुर्दे उखाडना नही है—

> जब भी अतीत मे जाता हू
> मुर्दों को नहीं जिलाता हू
> पीछे हटकर फेंकता बाण
> जिससे कम्पित हो वर्तमान ।[184]

उर्वशी के सामाजिक सदर्भ की यही अन्विति या और तारतम्य है ।

सन्दर्भ-सकेत

1 आधुनिक साहित्य बोध (एक परिसवाद)
आधुनिकता अर्थात सकट बोध डा० धमवीर भारती, प० 12
2 विवाह और नतिकता बर्ट्रेंड रसेल, प० 34
3 कविता और कविता इन्द्रनाथ मदान, पृ० 7
4 पत, प्रसाद और मथिलीशरण गुप्त दिनकर, पृ० 9
5 चक्रवाल दिनकर, पृ० 33
6 रेणुका दिनकर, प० 2
7 हुकार दिनकर, पृ० 23
8 पत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त दिनकर
9 रेणुका दिनकर, पृ० 43
10 रसवन्ती दिनकर, पृ० 29 30
11 वही, पृ० 47
12 कुरक्षत्र दिनकर, प० 106
13 वही, पृ० 107
14 वही, प० 108
15 वही, प० 131
16 वही, प० 131
17 वही, प० 142
18 उवशी दिनकर, प० 4
19 उवशी दिनकर, भूमिका (ख)
20 सशय की एक रात नरेश मेहता, भूमिका
21 मत्ति तिलक दिनकर, पृ० 58
22 धम और समाज डा० राधाकृष्णन, प० 166
23 युग चिन्तन मिमेन द बुआ अनु० शरद देवडा, पृ० 144 145
24 विवाह और नैतिकता बर्ट्रेंड रसेल, पृ० 93
25 उवशी दिनकर, पृ० 16
26 वही पृ० 27
27 वही, प० 26

28 उवशी दिनकर, पृ० 25
29 वही, पृ० 25
30 विवाह और नैतिकता बर्ट्रेंड रसेल, पृ० 44
31 उवशी दिनकर, पृ० 25
32 वही, पृ० 125
33 वही, प० 125
34 वही, पृ० 25
35 उवशी उपलब्धि और सीमा डा० विजेन्द्रनारायण सिंह, पृ० 92
36 उवशी दिनकर, पृ० 127
37 वही, भूमिका स
38 मुक्ति तिलक दिनकर, प० 56
39 वही, पृ० 56
40 वही, प० 58
41 सृजन की मनोभूमि डा० रणवीर राग्रा, प० 108
42 उवशी दिनकर, पृ० 41
43 मुक्ति तिलक दिनकर, पृ० 55
44 उवशी दिनकर, भूमिका (क्ष)
45 उर्वशी उपलब्धि और सीमा डा० विजेन्द्रनारायण सिंह, पृ० 76
46 उवशी दिनकर, पृ० 59
47 वही, पृ० 38
48 वही, पृ० 37
49 वही, पृ० 36
50 उवशी विचार और विश्लेपण स० वचनदेव कुमार, पृ० 12
51 वही, पृ० 35
52 वही, प० 36
53 वही, प० 35
54 वही, प 42
55 सृजन की मनोभूमि डा० रणवीर राग्रा, प० 108
56 उवशी दिनकर, प० 33
57 वही, प० 113
58 उवशी उपलब्धि और सीमा डा० विजेन्द्रनारायण सिंह, पृ० 75
59 उवशी दिनकर, प० 118
60 वही, प० 116
61 रश्मिलोक दिनकर भूमिका (च)

62 उवशी दिनकर, प० 35
63 वही, पृ० 59
64 वही, प० 45
65 उवशी उपलब्धि और सीमा डा० विजेन्द्रनारायण सिंह, पृ० 50
66 उर्वशी ्िनक्र, प० 46
67 वही, प० 46
68 कला सृजन प्रक्रिया डा० शिवकरण सिंह, पृ० 43
69 उवशी दिनकर, प० 46
70 वही, पृ० 45
71 वही, प० 62
72 कुरुक्षेत्र दिनकर, पृ० 55
73 युगचिंतन सिमेन द बुआ, अनु० शरद देवडा, पृ० 144-45
74 विवाह की मुसीबतें दिनकर, पृ० 9
75 वही प० 9
76 उवशी दिनकर, त० 9
77 वही पृ० 10
78 रसवन्ती दिनकर, प० 47
79 उवशी दिनक्र, प० 9
80 वही, प० 10
81 वही, प० 10
82 वही, प० 84 85
83 वही, प० 84
84 वही, प० 84
85 सभोग से समाधि की ओर रजनीश, पृ० 196 97
86 उवशी दिनकर, प० 11
87 इडियन एड फारेन रिव्यू अगस्त 73, दिनकर का इटरव्यू, प० 12 13
88 रसवती ्निकर, पृ० 51
89 उवशी दिनकर, प० 11
90 रसवती दिनकर, प० 51
91 उवशी दिनकर, पृ० 12
92 उवशी विचार और विश्लेषण स० वचनदेव कुमार, प० 161 62
93 उवशी दिनक्र, प० 92
94 वही प० 12
95 वही, त० 93

96 मत्ति तिलक दिनकर, पृ० 56
97 उवशी दिनकर, पृ० 90
98 वही, प० 91
99 वही, पृ० 91
100 वही, प० 85
101 वही, पृ० 85
102 वही, पृ० 85
103 वही, पृ० 26
104 वही, पृ० 26
105 वही, प० 27
106 वही, प० 27
107 विवाह और नैतिकता बर्ट्रेंड रसेल, पृ० 44
108 उवशी दिनकर, पृ० 25
109 वही, प० 2
110 विवाह की मुसीबतें दिनकर, प० 21
111 विवाह और नैतिकता बर्ट्रेंड रसेल पृ० 93
112 उवशी दिनकर, प० 24-25
113 वही, प० 125
114 विवाह और नैतिकता बर्ट्रेंड रसेल पृ० 51
115 उवशी दिनकर, प० 25
116 वही, प० 25
117 वही, पृ० 126
118 वही, प० 125
119 उवशी उपलब्धि और सीमा डा० विजेन्द्रनारायण सिंह, पृ० 84
120 उवशी दिनकर, पृ० 16
121 वही, पृ० 79
122 वही, प० 50 51
123 वही, प० 31
124 वही, प० 46
125 वही, पृ० 72
126 वही, प० 78
127 वही, प० 87
128 वही, पृ० 89
129 वही, पृ० 88 89

130 उवशी दिनकर, पृ० 87
131 विवाह और नैतिकता, बट्रेंड रसेल, प० 49 50
132 उवशी दिनकर, पृ० 89
133 वही, प० 127
134 वही, प० 127
135 वही, प० 127
136 वही, पृ० 36
137 वही, पृ० 42
138 सभोग से समाधि की ओर रजनीश, पृ० 54-55
139 उवशी उपलब्धि और सीमा डा० विजेन्द्रनारायण सिंह, पृ० 46
140 उवशी दिनकर, पृ० 67
141 राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी साहित्य साधना, स० प्रतापचन्द्र जायसवाल, पृ० 146
142 उवशी दिनकर, पृ० 67
143 विवाह की मुसीबतें दिनकर, पृ० 34
144 उवशी दिनकर, पृ० 67
145 वही, प० 67
146 वही, पृ० 25
147 वही, प० 25
148 सभोग से समाधि की ओर रजनीश, पृ० 80
149 उवशी दिनकर, पृ० 52
150 वही, पृ० 96
151 वही, पृ० 96
152 वही, पृ० 6
153 वही, पृ० 10
154 सभोग से समाधि की ओर रजनीश, प० 126
155 उवशी दिनकर, प० 11
156 सभोग से समाधि की ओर रजनीश, पृ० 19
157 उवशी दिनकर, प० 36
158 वही, प० 62
159 सभोग से समाधि की ओर रजनीश, पृ० 55
160 उवशी दिनकर, पृ० 59
161 वही पृ० 60
162 उर्वशी विचार और विश्लेपण स० डॉ० वचनदेव कुमार, पृ० 152

163 उर्वशी दिनकर, पृ० 41
164 वही, पृ० 59
165 उर्वशी विचार और विश्लेषण सं० डॉ० वचनदेव कुमार, पृ० 150
166 संभोग से समाधि की ओर रजनीश, पृ० 105
167 उर्वशी दिनकर, पृ० 63
168 जिन खोजा तिन पाइयां रजनीश, पृ० 11
169 उर्वशी विचार और विश्लेषण सं० डॉ० वचनदेव कुमार, पृ० 155
170 उर्वशी दिनकर, पृ० 49
171 जिन खोजा तिन पाइयां रजनीश, पृ० 12
172 उर्वशी दिनकर, पृ० 57
173 वही, पृ० 57
174 वही, पृ० 68
175 वही, पृ० 82
176 वही, पृ० 46
177 वही, पृ० 60
178 वही, पृ० 78
179 वही, पृ० 45
180 वही, पृ० 61
181 वही, पृ० 35
182 उर्वशी दिनकर, पृ० 46
183 उर्वशी, दिनकर, पृ० 79
184 मुक्ति तिलक दिनकर, पृ० 58

सदर्भ-ग्रथो की तालिका

1 आधुनिक साहित्य बोध (एक परिसवाद) "आधुनिकता अर्थात सकट का बोध" — डा० धमवीर भारती

2 उवशी उपलब्धि और सीमा — डा० विजेन्द्रनारायण सिंह, परिमल प्रकाशन, 194, सोहबतिया बाग, इलाहाबाद 6

3 उवशी विचार और विश्लेपण — स० डा० वचनदेव कुमार, बिहार ग्र थ कुटीर, पटना

4 कवि की दष्टि — डा० भारतभूपण अग्रवाल, द मेकमिलन कपनी आफ इण्डिया

5 कविता और कविता — इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

6 कुरुक्षेत्र — रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्रनगर, पटना 800016

7 चक्रवाल — रामधारी सिंह, दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर, पटना 800016

8 जिन खोजा तिन पाइया — आचाय भगवान रजनीश, आनन्द शिला प्रकाशन

9 दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि — प्रो० कामेश्वर शर्मा

10 धम और समाज — डा० सवपल्लि राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली

11 पत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त — रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर, पटना 800016

12 मुक्ति तिलक — रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर, पटना 800016

13 युगचिन्तन	स० [illegible] कलकत्ता
14 रसवन्ती	रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर पटना 800016
15 रश्मिलोक	रामधारी सिंह दिनकर
16 राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी साहित्य साधना	सं० प्रतापचन्द्र जायसवाल, समीक्षालोक कार्यालय आगरा
17 रेणुका	रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर, पटना 800016
18 विवाह और नैतिकता	बर्ट्रेंड रसल, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, 8, फैज बाजार, दिल्ली 6, पटना-6
19 विवाह की मुसीबतें	रामधारी सिंह दिनकर, स्टार पब्लिकेशन्स प्रा० लि०, 4/5 बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली 110001
20 शरद की एक रात	नरेश मेहता, पुस्तकायन प्रकाशन, 59, स्वामी विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद 3
21 संभोग से समाधि की ओर	आचार्य भगवान रजनीश, जीवन जागृति केन्द्र प्रकाशन
22 हृदय की मातृभूमि	डा० रणधीर [illegible]
23 हुंकार	रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन राष्ट्रकवि दिनकर पथ राजेन्द्र नगर पटना-800016

□ □